भारतीय पतन और उत्थान की कहानी

लेखक :

गंगा प्रसाद उपाध्याय

प्रकाशक :

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

3/5, महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली-2

प्रकाशक :

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान

नई दिल्ली-2

तृतीय संस्करण : 1998

मूल्य : 15.00 रुपये

मुद्रक :

जनशक्ति मुद्रण यन्त्रालय

शाहदरा, दिल्ली-32

विषय-सूची

1. महाभारत की आधारशिला

महाभारत को वैदिक काल की संध्या कहा जाय तो अनुचित न होगा। सूर्य के अस्त होने और रात के आने से पूर्व जो दशा होती है वह महाभारत की थी। रोशनी टिम-टिमा रही थी, और अन्धकार का आगमन था, हर वस्तु धुँधली दशा में थी। महाभारत हुआ ही इसलिए कि जैसे धुँधली दशा में अपने और पराये की पहचान नहीं रहती उसी प्रकार महाभारत के लोगों में भी विवेक की शक्ति समाप्त हो चुकी थी।

महाभारत युग में हमको किसी और धर्म की सत्ता दीख नहीं पड़ती। न पारसी धर्म था, न पारसियों के पश्चात् मूसवी, न ईसाई या इस्लाम। इसलिए कहने की आवश्यकता नहीं कि केवल वैदिक धर्म था परन्तु नाम मात्र के लिये। वैदिक धर्म का वास्तविक स्वरूप नष्ट हो चुका था। वेद के पढ़ने-पढ़ाने की प्रथा न थी जैसे आजकल साधारण हिन्दू वेद से परिचित नहीं परन्तु वेद के नाम से अवगत है, उसी प्रकार की कोई दशा रही होगी।

महाभारत को धर्मयुद्ध कहा है, परन्तु यह 'धर्मयुद्ध' धार्मिक युद्ध न था। आजकल की भाषा में यदि मुसलमान और ईसाई या हिन्दू और मुसलमान किसी धार्मिक विषय में लड़ पड़ें तो वह धार्मिक युद्ध कहा जायगा। परन्तु महाभारत में यह बात नहीं थी। युधिष्ठिर और

दुर्योधन के धर्म अलग न थे, उनका उपास्यदेव एक, उनका शास्त्र एक और उनका धार्मिक विश्वास एक, दोनों पक्ष ईश्वर पर विश्वास रखने वाले, आवागमन को मानने वाले, कर्म तथा फल के सिद्धान्तों पर विश्वास रखने वाले थे परन्तु यह सब होते हुए भी दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरोधी तथा एक-दूसरे के खून के प्यासे थे। लड़ाई थी केवल राज के और राज सम्बन्धी सत्ता के लिये। उनका निश्चय होना था तलवार के जोर से। क्योंकि शास्त्रों या शास्त्रों की व्याख्या करने वालों में कोई ऐसा ब्राह्मण न था जिसकी बात पर संसार के लोग चल सकते।

वेदों में दो शक्तियों को महत्वशाली बताया गया है, एक का नाम ब्रह्म-शक्ति अर्थात् आत्मिक शक्ति और दूसरी क्षात्र शक्ति अर्थात् शारीरिक शक्ति। जब यह दोनों शक्तियाँ अपनी सीमा के भीतर रहती हैं और एक-दूसरे पर प्रभाव डालती रहती है, मनुष्य का कल्याण होता है। आत्मा शरीर का पथ-प्रदर्शन करती है, शरीर अपनी सीमा का अतिक्रमण नहीं करता। परन्तु जब आत्मा और शरीर की एकता में विकार उत्पन्न होता है तो न ज्ञान कर्म के अनुसार होता है और न कर्म ज्ञान के अनुसार होता है। दोनों एक-दसरे के विरुद्ध हो जाते हैं। आँख पैर का पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकती। पैर आँखों का कहना नहीं मानता। अन्धा और अन्धे के समक्ष कुवाँ। कुवाँ दीखता नहीं और अन्धा चलने से रुकता नहीं। नाश न हो तो कैसे न हो।

यही दशा महाभारत काल की थीं। महाभारत में संसार के पंडितों और वीरों का अन्त हो गया सारे वैदिक युग के प्रसिद्ध पंडित मारे गये, सारे वीर पुरुष वीरगति को प्राप्त हो गये। बुद्धि चूर-चूर और शरीर टुकड़े-टुकड़े। फिर जीवन के रहने का क्या सहारा था ? वैदिक

आत्मा संसार से लोप हो गयी, केवल शरीर और नाम मात्र रह गया। परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों की मृत्यु के पहले ब्रह्मतेज और क्षात्र धर्म का नाश हो चुका था।

द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे परन्तु उनके ब्रह्मतेज में स्वतन्त्रता न थी। वह थे तो क्षत्रियों की सेवा में। वह तो थे केवल सेना के सेनापति। सेना तो केवल युद्ध का साधन थी और प्रत्येक देश की सेना की यही दशा होती है। सेना लड़ती है। उसे यह सोचने का अधिकार नहीं कि लड़ाई की जाय या न की जाय।

नीति (पालिसी) का निर्णय होता है राजा के हाथ में। सेनापति आज्ञा का पालन करता है। राजा के आदेशानुसार लड़ता है। नीति का निर्णय राजा के अधिकार में होता है। गीता के आरम्भ में इसको पूर्णरूप से स्पष्ट कर दिया गया है। जब दो सेनाएँ रण में आकर खड़ी होती हैं तो दुर्योधन दोनों दलों पर एक दृष्टि डालता है, द्रोणाचार्य को सूचित करता है और फिर लड़ाई आरम्भ करने का आदेश दे देता है। भीष्म-पितामह भी उपस्थित हैं परन्तु नीति के निर्णय के लिए नहीं। निर्णय तो दुर्योधन के हाथ में है। निर्णय हो चुका। लड़ाई होगी। सुई की नोंक के बराबर पृथ्वी भी बिना युद्ध के नहीं दी जा सकती। यहाँ ब्रह्म शक्ति पराजित हो चुकी, वह क्षात्र शक्ति के आधीन है। सेनापति ने जीवन भर राजा का नमक खाया है, उसका कर्तव्य है कि उस नमक के ऋण से उऋण हो, यही हुआ।

परन्तु नीति के निर्णय करने में धर्म से काम नहीं लिया गया। धर्म का नाम तो हम बहुत सुनते हैं और महाभारत में बीसियों स्थल पर आया है कि ''यतोधर्मस्ततोजयः'' जहाँ धर्म होता है वहाँ जय होती है। परन्तु यह तो एक साधारण बात है जिसे तोते की भाँति

रट लिया गया है। धर्म है क्या ? इस पर विचार नहीं किया और न वेद से पूछा गया।

ऋग्वेद में एक मन्त्र आता है जिसमें बताया गया है कि "ऐ मनुष्य जुआ मत खेल, खेती कर"। ये दो साधारण वाक्य हैं परन्तु इनके पीछे एक गहरी सत्यता है। जुआरी और खेती करने वाले में क्या भेद है ? किसान कारण और कार्य में एक घनिष्ठ सम्बन्ध देखता है। वह जानता है कि जैसा वह बोएगा वैसा ही काटेगा। रत्ती बराबर भी इसके विरुद्ध नहीं हो सकता—जौ बोइये-जौ काटिये, गेहूँ बोइये-गेहूँ काटिये, अच्छे गेहूँ बोइये अच्छे गेहूँ काटिये, खराब गेहूँ बोइये काटने के समय खराब गेहूँ ही मिलेंगे। गेहूँ बोकर खेत को सींचा नहीं या जानवरों से उसकी रक्षा नहीं की तो फसल अच्छी न होगी। यह है किसान का दृढ़ विश्वास और वह इसके अनुसार कार्य करता है। जुआरी का विश्वास इसके विरुद्ध है। वह कर्म और उसके फल में कोई सम्बन्ध नहीं देखता। वह आकस्मिक घटनाओं में विश्वास करता है। वह आशा रखता है कि शायद जौ बोने से भी ईश्वर की कृपा से गेहूँ उत्पन्न हो जायें।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, ईश्वर जैसा चाहता है करता है। उसे हर एक सियाह सफेद करने का पूर्ण अधिकार है। वह ईश्वर का निर्णय जुए के पाँसों से करना चाहता है। वह ईश्वर से पूछता नहीं कि 'हे ईश्वर तेरी क्या इच्छा है ? तू क्या चाहता है।' यदि वह हृदय की गहराई में ईश्वर से प्रश्न करता तो शायद उसकी आत्मा उसे सहायता दे सकती। ईश्वर की शक्ति उसे कुछ प्रेरणा देती। शायद ईश्वर के नियम से ईश्वर की इच्छा के विषय में कुछ सोच सकता। परन्तु उसने ईश्वर की सारी शक्ति का अनुभव जुए के पाँसों से

किया, इसलिए उसने जुए के दाँव पर अपनी बुद्धि, अपना शरीर, अपना ज्ञान और अपना कर्म न्योछावर कर दिया।

युधिष्ठिर और दुर्योधन के बीच यही हुआ। सत्य क्या है ? और सत्य क्या नहीं है ? इसका निर्णय करने वाले जुए के पासे थे। दोनों हृदय जुआरी थे, किसान न थे और कर्म के मानने वाले न थे। वैदिक-धर्म का यह सरासर अपमान था और वैदिक धर्म के इस अपमान का परिणाम नाश के अतिरिक्त हो भी क्या सकता था ?

दार्शनिकों में एक सम्प्रदाय है जिसे 'गैम्बलिंग फिलासफी' कहना चाहिए। उनका कहना है कि संसार में कारण और कार्य का सम्बन्ध केवल काल्पनिक है। वास्तव में न कारण है न कार्य कैसे जौ बोने से जौ ही पैदा होता है यह कोई नहीं बता सकता। यद्यपि मनुष्य का अनुभव यही है। परन्तु क्या गारण्टी है कि भविष्य में भी यह अनुभव ठीक निकले। मनुष्य के कितने अनुभव समाप्त हो गये इसलिए बहुत सम्भव है कि जितनी वस्तुएँ कारण व कार्य समझी जाती हैं वह सब अनुचित सिद्ध हो सकें। इसलिए हमारी समस्त शक्तियाँ केवल काल्पनिक हैं सत्य नहीं। संसार है क्या ? केवल एक जुआ। इसलिए युधिष्ठिर तथा दुर्योधन ने जो जुए के पाँसों का आश्रय लिया तो कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। परन्तु वैदिक दर्शन इसके विरुद्ध है। हम संसार में एक ऐसी ज्ञान वाली सत्ता देखते हैं जो कर्म और फल में थोड़ा भी अन्तर नहीं होने देती। संसार एक क्षेत्र है, जुआ-घर नहीं है। महाभारत का आरम्भ जुए से होता है, यह अधर्म का आरम्भ है। □

2. समाज की अवस्था

पांडव और कौरव ज्वांरी राजा तो थे ही जो वैदिक शिक्षा और दीक्षा के विरुद्ध बात थी, साथ ही उस काल के समाज में व्यक्ति के अधिकारों के लिए कोई स्थान न था। यह तो निर्विवाद है कि वैदिक धर्म के अतिरिक्त कोई और धर्म न था। परन्तु इससे क्या ? कोई धर्म उस काल तक किसी समाज को जीवित नहीं रख सकता जब तक उस धर्म में स्वयं जीवन न हो। जलती हुई आग की चिनगारी शेर को डराने के लिए पर्याप्त है। बुझी हुई आग का ढेर एक चींटी को भी डरा नहीं सकता। जीवित वैदिक धर्म में शक्ति थी। वह समाज में जीवन उत्पन्न करता था। मुर्दा वैदिक धर्म, धर्म न था धर्म की लाश थी। जीवित शरीर से जो काम लिया जा सकता है मुर्दा शरीर से तो वह सम्भव नहीं है। अथवा क्या कारण था कि युधिष्ठिर को धर्मराज और धर्मपुत्र की उपाधि दी जाय जबकि उन्होंने जुए जैसे अधर्म को अपनाकर अपनी, अपने देश की और अपने समाज की नौका को पतन के सागर में डुबो दिया और उनकी संतान को पीढ़ी दर पीढ़ी इसका परिणाम भुगतना पड़ा?

धर्म क्या है और अधर्म क्या है ? यह प्रश्न कठिन है। एक प्रकार से कठिन भी नहीं क्योंकि सीधा मार्ग ही सन्मार्ग है। सन्मार्ग है ही केवल वह जिसको ठीक-ठीक मार्ग कहा जाता है। मार्ग ही ऋजुता है और ऋजुता ही मार्ग है। जो मार्ग नहीं वह सीधा नहीं और जो सीधा नहीं वह मार्ग नहीं। दो बिन्दुओं के बीच का सबसे छोटा मार्ग एक सरल रेखा है। बाकी समस्त टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ हैं। रेखा नहीं केवल लकीरें हैं जिन पर चींटी भी चलना पसन्द नहीं करती,

मनुष्य के लिए तो बात ही दूसरी है।

धर्म में चालाकी की आवश्यकता नहीं। स्वार्थ धर्म को बिगाड़ देता है। वह दूसरों के सामने अशुद्ध आदर्श स्थापित करता है। इसका एक बड़ा प्रमाण हमको गांधारी से मिलता है। गांधारी पतिव्रता स्त्री है। उसका विवाह अन्धे धृतराष्ट्र से होता है। महाभारत से हमको पता नहीं चलता कि गांधारी का स्वयंवर हुआ हो और गांधारी ने अपना पति चुना हो। अच्छा, तो गांधारी को धृतराष्ट्र के गले में कैसे बाँध दिया गया ? सम्भव है उसी प्रकार जिस प्रकार संसार भर के राजे अपने रनिवास को भरा करते हैं। अन्य लोग स्वार्थ के लिए सुन्दर कन्याओं को स्वार्थी राजों की वासना तृप्ति के लिए लाते हैं। राजा को बलपूर्वक या लोभ दिखाकर अपनी कन्याओं की हत्या करने के लिए प्रस्तुत करते हैं।

गांधारी गांधार के राजा की कन्या थी। सुन्दर तो रही होगी। आजकल भी देश के उस भाग में सुन्दर कन्याएँ जन्म लेती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि गांधारी आई और अंधे धृतराष्ट्र के गृह में प्रवेश कर गई। इसको शिक्षा दी गई थी कि प्रत्येक पतिव्रता स्त्री को अपने पति की प्रसन्नता का कारण बनना चाहिए और उसे किसी ऐसे सुख का उपभोग नहीं करना चाहिए जिससे उसका पति वंचित हो। धृतराष्ट्र अंधे थे, आँखों का सुख उनके भाग्य में न था, पत्नी को भी उस काल के स्वार्थी पंडितों ने यही पाठ पढ़ाया होगा कि वह नेत्रों के सुख से अपने को वंचित रखे। यही उसका धर्म है और यही उसका पातिव्रत है। यही एक मार्ग है जिससे उसका नाम सती स्त्रियों में प्रसिद्ध होगा। ऐसा ही हुआ, दुर्भाग्यवश आजकल भी धर्म का यही आदर्श है। उसकी स्थान-स्थान पर प्रशंसा होती है। आजकल की

कन्याओं और स्त्रियों के समक्ष यही आदर्श प्रस्तुत किया जाता है। इस आदर्श को कोई मानता है या नहीं, यह दूसरी बात है। सम्भव है आजकल भी कुछ ऐसे अंधे पति होंगे, परन्तु उनकी स्त्रियाँ अपनी आँखों पर तो पट्टी न बाँधती होंगी। परन्तु गांधारी ने ऐसा ही किया। लिखा है कि वह जीवन भर स्वस्थ आँखों के होते हुए भी अंधी ही रही। मेरे विचार में यह धर्म न था, धर्म का केवल दिखावा मात्र था।

मनुस्मृति में एक श्लोक आया है, **"न लिंग धर्म कारणं"** केवल किसी बाहरी लिंग का नाम धर्म नहीं है ! धर्म का सम्बन्ध मन और मन के विचारों से है। केवल सूत के तीन धागे गले में डाल लेने से कोई मनुष्य ब्रह्मचारी नहीं बन सकता जब तक कि वह ब्रह्मचर्य के कठिन व्रत का पालन न करे। इसी प्रकार पतिव्रता स्त्री के बहुत से रूप हैं। आँख पर पट्टी बाँधना नहीं। सम्भव है आप मेरी इस विचारधारा को दूषित ठहराएँ। परन्तु यदि आप आदर्श-पालन का प्रश्न उठाएँगे तो आपको स्पष्ट हो जायगा कि आप भी वास्तव में इसे धर्म नहीं मानते।

एक उदाहरण लीजिए; ईश्वर न करे यदि आपकी एक टाँग किसी दुर्घटना में टूट जाय और आप लँगड़े हो जायें तो क्या आप यह चाहेंगे कि ज्योंही आपकी पत्नी को इसकी सूचना मिले कि मेरा प्यारा पति लँगड़ा हो गया है तो वह अपनी टाँगें तोड़ ले या उस पर ऐसी कोई पट्टी बाँध ले कि उससे कार्य लेना कठिन हो जाय और जब आपको बाहर से किसी स्ट्रेचर पर डालकर घर लाया जाय तो आप देखें कि आपकी श्रीमती पत्नी भी उसी रोग में ग्रस्त हैं और चलने-फिरने से लाचार है ? क्या आप इसे पातिव्रत कहेंगे ? और क्या ऐसी पत्नी आपकी सेवा करने में सहायक होगी ? या इसके विपरीत आप घर

में आयें तो आपकी पत्नी आपको सुख देने के लिए दौड़-धूप में लगी हो। आँखों पर पट्टी बाँधें हुए गांधारी अपने पति की क्या सेवा करती होगी ? वह अपने पति के सुख के लिए कैसे प्रबंध करती होगी ? मैंने अपने घर में सदा यह अनुभव किया है कि जब मेरी पत्नी मेरा भोजन स्वयं लाती हैं तो हर एक छोटी-बड़ी वस्तु का ध्यान रखती हैं। कौन वस्तु मेरे लिए लाभदायक है ? क्या मुझको पसंद है ? किस वस्तु को मैं अधिक खाता हूँ ? किस वस्तु को कम पसंद करता हूँ ? मेरी पत्नी की अनुपस्थिति में दूसरे लोग यद्यपि मुझसे प्रेम रखते हैं और मेरी सेवा करते हैं फिर भी उन बातों को नहीं समझ सकते जिनको केवल मेरी पत्नी ही समझती हैं। मैं एक बार देखकर समझ जाता हूँ कि आज इस थाली में किसी अन्य का हाथ है। यदि मैं बीमार होता हूँ तो मेरी पत्नी की आवश्यकता बढ़ जाती है। मुझे बीमार देखकर वह स्वयं बीमार नहीं बन जातीं क्योंकि यदि वह स्वयं भी बीमार बन जायें या मेरे ज्वर की सूचना पाकर वह स्वयं भी लिहाफ ओढ़कर बिस्तर पर लेट जायें तो मेरी सेवा कौन करे ? सेवा ही पातिव्रत है। गांधारी एक पतिव्रता स्त्री थी परन्तु पतिव्रता शब्द के वास्तविक अर्थ से अनभिज्ञ थी। इसमें सम्भवतः उसका दोष न था। दोष था पंडितों का। दोष था जो पातिव्रत का अनुचित अर्थ लगाते थे। दोष था उस काल का जिसमें केवल एक ऊपरी लिंग को धर्म समझ लिया गया था। आज भी मनुस्मृति में दिये हुए श्लोक को और उसके अर्थ को नहीं समझते। वह केवल पीले वस्त्र को ही संन्यास आश्रम समझ लेते हैं।

संन्यासी कौन है ? संन्यासी का क्या धर्म है ? इस पर कोई ध्यान नहीं देता। आयु अधिक हो गई है, संन्यास लेना ही चाहिए। संन्यास लेने का क्या अर्थ है ? क्या लम्बी आयु ही संन्यास की योग्यता

का प्रमाण है। लोभी हो, लालची हो, क्रोधी हो, केवल पीले वस्त्र धारण किये हुए हो और समस्त पाप क्षमा। सारा भारतवर्ष ऐसे साधुओं से भरा पड़ा है। बर्मा, स्याम आदि बौद्ध देशों में तो साधुओं का ही राज है। महाभारतकाल में यह पतन आरम्भ हो गया था और गांधारी बेचारी इस पतन का शिकार हो गई। यदि एक अंधे की पत्नी मेरे पास उपदेश के लिए आये तो मै उसे बताऊँगा 'देवी ! तेरा विवाह एक अंधे से हुआ है। पतिव्रता पत्नी का कर्त्तव्य है कि पति के अभाव की पूर्ति करे, ताकि पति की कमजोरी घर को नाश करने का साधन न हो। यदि तेरा पति स्वस्थ होता तो तुझे केवल दो आँखों की आवश्यकता थी। अब आवश्यकता चार आँखों की है, दो अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए और दो पति की कमजोरी के निवारण के लिये।' यदि वह गांधारी का प्रमाण प्रस्तुत करती तो मैं उत्तर देता 'देखो देवी ! गांधारी का अंधापन ही उसकी अयोग्यता का कारण बन गया। बाप अंधा था और माँ भी अंधी बन गई, लड़कों की देख-भाल कौन करता और राज का प्रबन्ध कौन करता। गांधारी को चार आँखों की आवश्यकता थी, चतुर पत्नी ऐसा सुर्मा प्रयोग करती कि उसकी आँखें दुगुना काम करतीं, संतान बनती, राज बनता। गांधारी को सच्चे धर्म का उपदेश दिया जाता तो महाभारत न होता और महाभारंत के होने से जो देश और जाति पर आपत्ति आई वह न आती। पता नहीं कि उस समय के उपदेशकों के हृदय में यह छोटी-सी बात क्यों न उत्पन्न हो सकी !

वैदिक धर्म का सूर्य अस्त हो चुका था। अंधेर नगरी का आरम्भ था। गांधारी की आँखों में पट्टी बाँधना उसी अंधकार और पतन का एक चिह्न था। □

3. पतन लीला का प्रारम्भ

दुर्योधन और उसके मित्रों ने युधिष्ठिर को निमन्त्रण या चैलेंज दिया कि यदि भाग्य या वीरता की परीक्षा करना चाहते हो तो हमारे साथ जुआ खेलो। यह ऐसा ही चैलेंज था जैसा कि किसी स्कूल या कॉलेज की होकी टीम किसी दूसरे कॉलेज या स्कूल की टीम को चैलेंज देती है। चैलेंज को स्वीकार न करना निर्बलता या हार का लक्षण समझा जाता है। कम से कम युधिष्ठिर ने इसका यही अर्थ लिया। साधारण स्थिति का मनुष्य में, अपने कमरे में बैठा हुआ, इस निश्चय पर हँसता हूँ। वह कैसे हुआ मेरी बुद्धि में नहीं घुसता, परन्तु हुआ तो ऐसा ही। कारण कुछ भी क्यों न हो और वातावरण कैसा ही क्यों न रहा हो ! आज यदि मुझे कोई जुआ के लिए चैलेंज दे तो मेरा उत्तर यह होगा 'तुम जुए की प्रतिद्वन्द्विता के लिए कोई जुआरी खोज लो। जुए का निमन्त्रण स्वीकार करना किसी भले मनुष्य का काम नहीं, और न तुम जैसे जुआरियों के निमन्त्रण को स्वीकार न करना हीनता का प्रमाण है।' श्रेष्ठता की माँग तो यह है कि किसी जुआरी को मुँह न लगाया जाय और न उनसे किसी प्रकार का सम्पर्क रखा जाय। कॉलेज के विद्यार्थी भी किसी असंयत व्यक्तियों से हाकी मैच खेलना स्वीकार न करेंगे।

शकुनि ने महाराज युधिष्ठिर से कहा—

उपस्तीर्णा सभा राजन्सर्वे त्वयि कृतक्षणाः।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर।।4।।*

***महाभारत, द्यूत पर्व, अध्याय 59**

'हे राजन् ! सारी सभा उचित सामग्री से सजाई जा चुकी है। सब राजा तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब पाँसे फेंककर खेल आरम्भ हो जाना चाहिए।'

महाराज युधिष्ठिर द्यूत सभा में जाकर बैठ गये। कुछ बहाने किये फिर–

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम्।
विधिश्च बलवान्राजन्दिष्ट स्याऽस्मि वशे स्थित।।19।।

–महाभारत, द्यूत पर्व, अध्याय 59

'आह्वान किया हुआ मैं लौटता नहीं हूँ यही मेरा व्रत है। हे राजन् ! दैव बलवान है और यह जगत् दैव के वश में है।'

युधिष्ठिर के आत्म-सम्मान ने इस बात की आज्ञा नहीं दी कि निमन्त्रण को अस्वीकार कर दें। फलतः जुआ आरम्भ हुआ।

परिणाम यह हुआ कि राज को दाँव पर लगाया और हार गए। रानी द्रौपदी को दाँव पर रखा और उसे भी हार गये। यह समाज था या अंधेर नगरी। वैदिक समाज व्यवस्था तो थी नहीं। समस्त सभ्य समाजों में व्यक्तियों के अधिकार होते हैं। वैदिक धर्म का आधार तो व्यक्तियों के अधिकार की रक्षा पर ही स्थित है। प्रत्येक के अधिकार सुरक्षित हैं। पति के, पत्नी के, पिता के, पुत्र के, राजा के, प्रजा के, सेवक के, स्वामी के, पड़ोसी के, परिवार के, लोगों के। मुझे वैदिक यज्ञों में से एक यज्ञ का स्मरण होता है, उसका वर्णन पूर्व मीमांसा में किया गया है, उस यज्ञ का नाम है 'विश्वजित् यज्ञ'। इस यज्ञ में यजमान अपना सब कुछ दान कर देता है, कुछ अपने पास नहीं छोड़ता। वहाँ यह प्रश्न उठाया गया कि विश्वजित यज्ञ का करने वाला क्या वस्तु दान करे ? और क्या न करे ? सर्वप्रथम यह प्रश्न

उठाया गया कि यदि माता-पिता वृद्ध हो गये हों तो उनको भी दान कर दिया जाय या नहीं ? यह प्रश्न है। शास्त्र उत्तर देता है कि यह प्रश्न अनर्थक है क्योंकि माता-पिता पुत्र की सम्पत्ति नहीं हैं। जिस वस्तु पर अधिकार नहीं वह मेरी सम्पत्ति नहीं, उसे मैं दान में कैसे दे सकता हूँ। क्या मैं दान में अपने पड़ोसी का घर दे सकता हूँ। पड़ोसी का घर मेरा नहीं, उसका है। इसलिए माता-पिता के दान का प्रश्न नहीं उठता। इसी प्रकार क्या कोई राजा अपने राज्य का दान दे सकता है ? इसका भी उत्तर शास्त्र देता है कि भूमि राजा की नहीं राज्य की है। राज्य और राजा में भेद है। राजा शासक है स्वामी नहीं। उसका राज्य की उन्नति के लिए उत्तरदायित्व है। वह अपने राज्य को न तो गिरवी रख सकता है और न विक्रय कर सकता है। न दान दे सकता है। इस प्रकार जब युधिष्ठिर ने अपने राज्य को जुए के दाँव पर रखा तो युधिष्ठिर को इसका कोई अधिकार न था और न जीतने वाले का कोई अधिकार था कि राज्य को अपने अधिकार में ले सकता। इसी प्रकार प्रश्न द्रौपदी का भी था।

द्रौपदी की कहानी मेरे लिए सदा एक पहेली रही है। मैंने द्रौपदी और पाँच पतियों के विषय में बहुत कुछ साहित्य पढ़ा है, परन्तु यह प्रश्न विवाह के नियमों से सम्बन्ध रखता है। वेदों में विवाह के नियम निश्चित हैं और वह पति और पत्नी के अधिकारों की रक्षा करते हैं। द्रौपदी की कहानी किसी भी नियम के अन्तर्गत नहीं आती। यह लोकगाथा है। द्रौपदी कैसे पाँचों भाइयों की एक साथ पत्नी बन गई, वह ऐसी अर्थशून्य, अविश्वसनीय और लचर कहानी है कि उस पर विचार करने का जी नहीं चाहता। एक साधारण व्यक्ति के मस्तिष्क में यह कहानी नहीं जमती, इसकी कल्पना मात्र पर हँसी

आती है। पर है यह एक वास्तविक तथ्य जो महाभारत के पतन का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

हमारा कहना यह है कि पत्नी किसी पति की चल सम्पत्ति नहीं है, न उसको जुए के दाँव पर रखा जा सकता है, न विक्रय किया जा सकता है और न दान दिया जा सकता है। बचपन में हमने लोगों को यह कहते सुना था कि स्त्री के दान का पुण्य सबसे अधिक होता है और बहुत से धनाढ्य लोग अपनी पत्नी को समस्त आभूषणों से अलंकृत करके पुरोहित को दान कर दिया करते थे और रीति को पूरा करने के पश्चात् पुरोहित जी एक निश्चित मूल्य पर उस पत्नी को पति के हाथ बेच देते थे। यह रिवाज कैसे पड़ा ? पता नहीं। सम्भव है किसी चालाक पुरोहित की यह चाल रही होगी, क्योंकि पैसे वाले आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे प्रसिद्ध हैं ही और पुरोहित के स्वार्थी और चालाकियों की कहानियाँ भी कुछ कम प्रसिद्ध नहीं हैं। एक बार जब एक सेठ साहब ने सेठानी जी को समस्त आभूषणों से आभूषित करके पुरोहित को दान कर दिया तो पुरोहित मचल गये। सुन्दरी सेठानी जी हाथ आ गई, उनका जी न चाहा कि उसे फिर बेचें। उन्होंने कहा कि तुमने सेठानी जी को दान कर दिया अब वह मेरी हैं। मेरा अधिकार है कि मैं अपनी वस्तु को बेचूँ या न बेचूँ। सेठ जी जाइए घर बैठिए, दान दी हुई वस्तु की इच्छा करना महापाप है। जीवन पर एक अमिट कलंक है। आप अनुमान लगा सकते हैं कि सेठ जी और सेठानी जी और उनके मित्रों के समक्ष क्या धर्म संकट आया होगा। पता नहीं यह झगड़ा कैसे समाप्त हुआ। सम्भव है कि किसी न किसी प्रकार पुरोहित जी लोभ के शिकार हो ही गये होंगे। जो भी हो परन्तु युधिष्ठिर का कोई अधिकार न

था कि वह द्रौपदी को जुए के दाँव पर रखें और उसे हार जाएँ। और न दुर्योधन को यह अधिकार था कि द्रौपदी को चल सम्पत्ति समझकर अपने अधिकार में लाने का विचार हृदय में ला सके। सम्भवतः शायद द्रौपदी ने हाथ-पैर मारे भी परन्तु समाज की दशा इतनी गिरी हुई थी कि सबने "टुक-टुक दीदम दम न कशीदम्" पर अमल किया। विद्वत् समाज अपने नेत्रों से यह लीला देखता रहा। किसी में इतनी नैतिकता न थी कि अपनी आवाज उठाते।

ऐसी अज्ञानता और अधर्म की प्रवृत्ति का एक ही फल हो सकता था कि सारा समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। इस अधर्म में सभी लोग सम्मिलित थे—कोई आरम्भ में कोई मध्य में। लिखा है कि श्री कृष्ण जी महाराज ने यत्न किया कि युद्ध न हो किन्तु जहाँ कहीं श्रीकृष्ण जी के दूत कर्म का वर्णन होता है वहाँ धर्म के इन नियमों पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। भीष्म पितामह ऐसे धर्मध्वजी व्यक्ति भी मौन धारण किए हुए थे। उनके जीवन की सारी तपस्या और सारी नैतिकता विरोध करने के लिए प्रेरणा नहीं देती थी। जब प्रश्न किया गया तो उन्होंने गोल-मोल यही उत्तर दिया कि "यतोधर्मः ततो जयः"। "जो सत्य पर है उसकी जीत होगी।" परन्तु यह नहीं बताया गया कि सत्य पर कौन है और कौन नहीं ? दोनों पक्ष अपने आपको सत्य पर समझते रहे परन्तु दोनों ही सत्य से बहुत दूर थे। धर्म को दोनों ने तिलांजलि दे दी थी। धर्म किसी ओर न था। ऐसी दशा में जीत किसकी होती और हार किसकी ? हुआ भी ऐसा ही।

स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि यदि युद्ध में दो दल अपनी विजय के लिए अलग-अलग प्रार्थना करें तो ईश्वर किसका पक्ष करेगा, किसका नहीं। अतः ईश्वर ने किसी का पक्ष

नहीं लिया। नाम के लिए पांडवों की जीत हुई और कौरव मारे गए। परन्तु क्या सत्यतः यह पांडवों की विजय थी ? देश तो सारा नष्ट हो चुका था। सारे पंडित और ज्ञानी मारे गए, सारे वीर युद्ध भूमि में सो रहे थे। द्रोण, भीष्म, कर्ण, युधिष्ठिर के अनेकों सम्बन्धी युद्ध में कालग्रास हुए। कौरव और पांडवों के पक्ष में युद्ध करने वाली शक्तिशाली सेना नष्ट प्रायः हो गई थी। धृतराष्ट्र के पूछने पर—

दशायुतानामयुतं सहस्त्राणि च विशतिः।
कोटयः षष्टिश्च षट् चैव हरस्मिन् राजन् मृधे सतः।।*

धर्मराज युधिष्ठिर कहने लगे—'हे राजन् ! इस युद्ध में छियासठ करोड़ एक लाख तीस हजार सेना मारी गई।'

कभी-कभी विजय का भयंकर रूप होता है। हारने वाला तो नष्ट हो ही जाता है, पर सफलता पाने वाला भी इतना अशक्त हो जाता है कि उसमें भोग करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती है, न शासन करने की योग्यता। महाभारत का युद्ध भी इसी प्रकार का युद्ध था।

बचा कौन ? गांधारी अपने पुत्रों की लाश पर आँसू बहाने के लिए, कुन्ती अपने सम्बन्धियों की मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए।

रानियाँ धर्मराज युधिष्ठिर से कह रही हैं—

क्व नु धर्मज्ञता राज्ञः क्व नु साऽद्यानृशंसता।
यच्चावधीत्पितृन् भ्रातृन् गुरु पुत्रान् सखीनपि ॥**

'हे धर्मराज ! कहाँ तुम्हारी धर्मज्ञता प्रसिद्ध थी, कहाँ आज यह

***महाभारत, श्राद्ध पर्व अध्याय 26-9**

****महाभारत, जल प्रदानिक पर्व अध्याय 12 ।7-9**

बर्बरता प्रकट हो रही है, जिससे पिता, भ्राता, गुरु-पुत्र, मित्र आदि का तुमने वध कर दिया।'

धातयित्वा कथं द्रोणं भीष्मं चापि पितामहम्।
मनस्तेऽमूनमहाबाहो हत्वा चापि जयद्रथम।।***

'हे महाबाहो ! द्रोणाचार्य भीष्म पितामह और राजा जयद्रथ को मारकर आज तुम्हारे मन की क्या दशा होगी।'

किं नु राज्येन ते कार्य पितृन् भ्रातृनपश्यतः।
अभिमन्युं च दुर्धर्ष द्रोपदेयांश्च भारत।।*

'हे युधिष्ठिर ! अपने पिता, भ्राता, महापराक्रमी अभिमन्यु और अन्य द्रौपदी पुत्रों के बिना राज्य प्राप्त करने में तुमको कैसा लगेगा ?'

गांधारी रोकर भीम से कहने लगी–

वृद्धस्यास्य शतं पुत्रान्निघ्नंस्त्वमपराजितः।
कस्मान्न शेषयेः किञ्चिद्येनाल्पमपराधितम्।।
सन्तानमावयोस्तात वृद्धयोर्हत राज्योः।
कथ मन्धद्वयस्यास्य यष्टिरेका न वर्जिता।।**

'हे भीम ! तुम इतने बल वाले हुए कि तुमने वृद्ध राजा धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों को मार डाला। इसमें से किसी एक ने यदि थोड़ा अपराध किया था तो उसे तो छोड़ देना चाहिए था। हे तात् ! हम वृद्ध दम्पती का राज्य छीना गया और सन्तान भी मारी गई। तुमने हम दो अन्धों की एक भी आधारभूत लकड़ी न छोड़ी।'

देश और समाज की यह दशा हुई कि सहस्रों वर्षों के लिए भविष्य अन्धकारमय हो गया। सारी सभ्यता की जड़ कट गई। सभी आदर्शों

***महाभारत, जल प्रदानिका पर्व, अध्याय 15-22**

पर पानी फिर गया।

महाभारत यदि वैदिक गौरव की सन्ध्या थी तो इसके पश्चात् जो काल आया वह ऐसी अंधेरी रात है जिसमें कुछ अपना पराया नहीं सूझता। अन्धे तो अन्धे होते ही हैं परन्तु आँख वालों के लिए भी कोई मार्ग नहीं कि वह कुछ देख सकें। अंधकारमय पथ और प्रकाश किरण का कहीं चिह्न भी नहीं। ◻

4. प्रथाओं ने धर्म का रूप धारण किया

महाभारत के भीषण युद्ध के पश्चात् वैदिक धर्म के पतन की कितनी श्रेणियाँ हैं इसके लिए साहित्यिक छान-बीन और उनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की आवश्यकता है। कम से कम प्रथम परिवर्तन तो मूल और शाखा के अविवेक से हुआ होगा। प्रकृति का नियम है कि सर्वप्रथम कुछ कार्य आवश्यकतानुसार किए जाते हैं। और जब उन कार्यों को क्रमानुसार दुहराया जाता है तो वह प्रथा का रूप धारण कर लेते हैं। प्रथा का अर्थ है बाह्य स्वरूप। यह शाखा है मूल नहीं है। परन्तु जब एक प्रथा अधिक प्राचीन हो जाती है तो उसकी वास्तविकता समाप्त हो जाती है और केवल बाह्य रूप रह जाता है।

हर देश तथा जाति में कुछ न कुछ प्रथाएँ पाई जाती हैं। इन प्रथाओं को सामाजिक आदतें (समष्टि-स्वभाव) कह सकते हैं। व्यक्तिगत अर्थ में किसी कार्य के बार-बार करने को आदत कहते हैं। सामाजिक भाषा में इसे प्रथा या संस्कार कहा जाता है।

मैंने आवश्यकता के अनुसार यह निश्चय किया कि दोपहर का खाना 11 बजे खाया करूँगा। मैं ऐसा ही करने लगा। पहले दिन यह आवश्यकतानुसार किया गया। परन्तु जब खाना 11 बजे खाते-खाते महीनों बीत गए तो इसका नाम आदत हो गया। यह आदत आवश्यकतानुसार भी हो सकती है और कभी बिना आवश्यकता के भी। कभी-कभी हानिकारक होते हुए भी ऐसा ही किया जाएगा।

परन्तु यदि समस्त जाति में 11 बजे खाना खाने की आदत या प्रथा चल पड़े तो इसे 'प्रथा' कहेंगे।

उसका कुछ-कुछ आकार हम यज्ञोपवीत (अर्थात् जनेऊ) से ज्ञात कर सकते हैं। प्राचीन काल में जब बालक को गुरु के पास बैठाते थे तो उसका यज्ञोपवीत होता था। एक विशेष यज्ञ के पश्चात् तीन धागों का जनेऊ गले में डालते थे। यह प्रथा भारत के बाहर भी किसी न किसी रूप में पाई जाती थी। यूनानी शब्द और उसी का पर्याय फारसी शब्द जुन्नार इसी बात को प्रकट करता है। कुछ समय पश्चात् गुरु-शिष्य परम्परा टूट गई। केवल गले में तीन धागे डालने की प्रथा शेष रह गई। तीन धागे ब्राह्मण होने का चिह्न है। पहले तीन विद्याएँ लिंग थीं। अब विद्याओं का स्थान तीन धागों ने ले लिया।

वेदों के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का नम्बर आता है। शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के ध्यानपूर्वक अध्ययन से पता चलता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का काल नहीं है। परन्तु यह अधोगति की प्रथम श्रेणी है। ब्राह्मण ग्रन्थों का काल वैदिक काल नहीं है। परन्तु यह अधोगति की प्रथम श्रेणी है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथाओं का महत्व अधिक है।

शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में अधिकतर यह विवाद किया गया है कि यजुर्वेद का अमुक मन्त्र किस यज्ञ में किस समय पढ़ा जाय और किस क्रिया के साथ पढ़ा जाय। इसके बारे में कुछ मतभेद हैं। जैसे एक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि जब दर्श और पौर्णमास यज्ञ करे तो यजमान खाना खाये या न खाये। उस समय प्रश्न हुआ कि व्रत करना चाहिए। 'व्रत' का यह अर्थ नहीं कि खाना न खाया जाय। आजकल व्रत के यही अर्थ लिए जाते हैं। कहा गया है कि उपवास रखना चाहिए। उपवास भी आजकल 'व्रत' या 'अनशन' शब्द का पर्यायवाची है।

एकादशी का व्रत कहिए या एकादशी का उपवास कहिए। बात एक ही है। परन्तु उपवास का अर्थ भी भोजन न करना नहीं है। वरन् इसका अर्थ है पास बैठना। अन्त में निश्चय यह किया गया कि यज्ञ के दिन देव लोग हमारे घर आते हैं। यज्ञमान को उचित यह है कि अतिथि को खिलाकर खाये। पहले न खाये। इस प्रकार व्रत के वास्तविक कर्म और 'न खाने' के एक ऊपरी रिवाज में सम्बन्ध स्थापित हो गया। आगे चलकर प्रथा रह गई, वास्तविक कर्म लुप्त हो गया।

इसी प्रकार दूसरी बातों में भी हुआ होगा। महाभारत के पश्चात् वैदिक धर्म की प्रथाओं ने भारत में क्या रूप धारण किया और भारत के बाहर क्या रूप हो गया ? यह एक चित्ताकर्षक स्वाध्याय है।

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में इन दो धार्मिक धाराओं का वर्णन किया है। सत्यार्थ प्रकाश के 11वें और 12वें समुल्लासों में उन मतमतान्तरों का वर्णन किया है जो भारतवर्ष में उत्पन्न हुए। अर्थात् पौराणिक धर्म के विभिन्न रूपों का वर्णन 11वें समुल्लास में है। जैनियों और बौद्धों से पूर्व बीच का रूप नास्तिकवाद भी है। दूसरी धारा जो भारत के बाहर बही वह सर्वथा विपरीत है। इसका साहित्य भी अलग है। इस धारा की केवल दो शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन 13वें और 14वें समुल्लास में है। वह भी केवल उतना जितना भारतीयों से सम्बन्धित है अर्थात् भारतीय मुसलमान और भारतीय ईसाई। इनकी बहुत-सी शाखाओं का वर्णन नहीं है क्योंकि भारत में उनका कोई विशेष जोर न था।

जब वैदकि धर्म में पतन आरम्भ हुआ तो स्वभावतः सुधार का काम भी आरम्भ हुआ होगा। जहाँ रोग है वहाँ औषधि उचित हो

या अनुचित। कोई रोगी बिना चिकित्सा के नहीं रह सकता। जहाँ वैज्ञानिक चिकित्सा प्राप्त नहीं होती वहाँ भूत, प्रेत और सितारों की चाल को ही रोग का कारण मान लिया जाता है, और उनको शान्त करने के अनोखे-अनोखे ढंग निकाल लिए जाते हैं। अर्थात् कुछ होना चाहिए। रोगी को धीरज तो रहता है कि कुछ हो रहा है।

महाभारत को हुए पाँच हजार वर्ष हो गए। भारत में सबसे बड़ी धार्मिक हलचल हमको 2।। हाजर वर्ष पूर्व दिखाई पड़ती है। जो जैन तथा बौद्ध धर्म के रूप में दीख पड़ती है। इससे पूर्व 2॥ हजार वर्ष में क्या हुआ, किस प्रकार हुआ, और क्या सुधार किया गया इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। क्या वैदिक धर्म के मौलिक स्वरूप और बौद्ध और जैन धर्मों के बीच कोई और घटनाएँ नहीं हुई यह असम्भव बात है। 2।। हजार वर्ष बहुत होते हैं। यह अवधि बिना परिवर्तन के रह नहीं सकती। वैदिक काल की आस्तिकता और बौद्ध काल की नास्तिकता के बीच बहुत से परिवर्तन हुए होंगे।

ऋग्वेद में एक मन्त्र आता है जिन पर विचार करने से कुछ अनुभाव किया जा सकता है। "परमात्मा एक है। पंडित लोग उसे अनेक नामों से सम्बोधित किया करते हैं।" यह एक मौलिक बात कह दी गई। उसी परमात्मा को एक रोगी चिकित्सक के रूप में देखता है, भक्त उसको बाप भी कहता है। माँ भी कहता है और मौला भी, मित्र भी कहता है और प्यारा भी, पथ-प्रदर्शक भी कहता है और गुरु भी। परन्तु जब किसी विशेष नाम के अधिक प्रयोग करने की आदत हो जाती है तो एक को दूसरे पर प्रधानता दी जाती है और दूसरे नामों का विरोध किया जाता है।

इसी प्रकार नये धर्म जन्म लेते हैं। जैसे आजकल आर्यसमाजी

लोग भी एक ईश्वर के मानने वाले हैं और सिख भी। परन्तु 'अकाल' शब्द यद्यपि संस्कृत और वैदिक है फिर भी सिखों को 'अकाल' से अधिक प्रेम है। वे अपने जयकार में अनन्त का उतना प्रयोग नही करते जितना 'अकाल' का करते हैं। इसी प्रकार शिव, विषणु, गणेश आदि की अलग पूजा होने लगी और वैदिक धर्म के कई भाग हो गए जो यद्यपि मौलिक वृष्टिकोण से एक थे फिर भी एक-दूसरे के विरोधी हो गए।

भारत के बाहर जो धार्मिक धारा वही वह आन्तरिक धारा से भिन्न थी। मुसलमान और ईसाई अपने साहित्य को हजरत इबराहीम तक ले जाते हैं। मुसलमानों का कहना है कि हजरत इब्राहीम को हुए 4।। हजार वर्ष हो चुके। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हजरत इबराहीम का जन्म महाभारत के 500 वर्ष पश्चात् हुआ। इन 500 वर्षों में वैदिक धर्म की धारा किन-किन जंगलों, रेगिस्तानों वा घाटियों में से गुजरती हुई कहाँ तक गई इसका कुछ-कुछ अनुभव यहूदी, ईसाई और इस्लामी पुस्तकों से लगाया जा सकता है, परन्तु इन दो धाराओं का स्रोत एक ही है।

हजरत इबराहीम अपने लड़के इस्माइल की बलि के लिए प्रसिद्ध हैं और इस्लाम में गाय आदि की बलि दी जाती है। वह (सुन्नते इबराहीमी) कहलाती है। अर्थात् हजरत इबराहीम के समय से यह प्रथा चल पड़ी थी। पता चलता है पशुओं की बलि देने की प्रथा इबराहीम के समय में अधिक थी। महात्मा बुद्ध और महात्मा महावीर के समय में भी पशुओं की बलि की प्रथा थी। महात्मा बुद्ध पशुओं की बलि का विरोध करते हैं और हजरत इबराहीम इस रिवाज को अपने सिद्धान्तों को दृढ़ करने के लिए प्रयोग करते हैं। महात्मा बुद्ध

ऐसे ईश्वर को भी नहीं मानते जिसे प्रसन्न करने के लिए मनुष्य को पशुओं की भाँति कार्य करना पड़े और लाखों निरपराधों की जान लेनी पड़े, यदि लाखों जीवधारियों को मारकर "मैं स्वर्ग में गया भी तो ऐसे स्वर्ग से नरक अच्छा है।"

हजरत इवराहीम अपने लड़कों की बलि दे देना ईश्वर को प्रसन्न कर देने का एक बड़ा साधन समझते हैं। हर दो धर्मों का आरम्भ पशु-बलि की पुष्टि या विरोध में होता है। एक ही पहाड़ी से दो सोते निकलते हैं। एक अहिंसा का रूप धारण कर लेता है दूसरा हिंसा का। □

5. अवतार और पैगम्बरवाद का बोलबाला

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्ययुत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

'ऐ अर्जुन ! जब कभी धर्म का पतन होता है, तो उसको फिर से उठाने के लिए मैं स्वयं को उत्पन्न करता हूँ।'

'भले मनुष्यों की रक्षा करने तथा बुरे लोगों का नाश करने के लिए मैं हर युग या काल में जन्म लेता हूँ।'

गीता के इस श्लोक को ईश्वर के अवतार लेने के विषय में प्रस्तुत किया जाता है। श्रीकृष्ण ईश्वर के अवतार थे और अर्जुन से कहते थे कि जब-जब धर्म का नाश होता है और पाप बढ़ जाता है तो धर्म पर चलने वालों की सहायता के लिए और दुष्टों का नाश करने के लिए जन्म लेता हूँ। इस विचारधारा के अनुसार जब-जब वैदिक धर्म पर आपत्ति आई और वेदों के विरोधियों ने सिर उठाया तब-तब परमात्मा ने स्वयं मनुष्य के स्वरूप में अवतरित होकर बुरे मनुष्यों का नाश किया और धर्म का पुनरुद्धार किया। यह विचार हिन्दू धर्म की एक आधारशिला है। महाभारत से पूर्व नरसिंह अवतार, शुक्र अवतार, कच्छ अवतार (कछवे के रूप में) मच्छ अवतार (मीन के रूप में), राम अवतार आदि होते रहे। इन अवतारों ने राक्षसों को मारकर धर्म को पुनर्जीवित किया।

भारतवर्ष के बाहर इसी नियम ने एक नया रूप ग्रहण किया। उन्होंने इस बात को अधर्म समझा कि ईश्वर अपने उच्च स्थान को छोड़कर धरती के निचले फर्श पर प्रकट होने की आवश्यकता का अनुभव करे। सर्व शक्तिमान् ईश्वर सभी कुछ कर सकता है। फिर उन्होंने देखा कि राजा समस्त कार्य स्वयं नहीं करता। उसे क्या आवश्यकता है कि अपने सिंहासन से नीचे उतरे ? उसके अनेक सेवक हैं। इसलिए जर्तुश्त आदि लोगों ने एक नया मत निकाला। इस मत के अनुसार जब कभी धर्म का पतन हुआ तो ईश्वर ने स्वयं अपने नबियों (दूतों) को संसार में भेजा है कि वह संसार में लोगों को सत्य मार्ग दिखाएँ और दुर्जनों का नाश करें। इसलिए जो पथ-प्रदर्शक पाश्चात्य देशों में हुए वह ईश्वर तो न थे, परन्तु ईश्वर के एजेण्ट या गवर्नर जनरल अवश्य थे। उनका वही प्रयोजन तथा कार्यक्षेत्र था जो अवतार से सम्बन्धित किया जाता है। राम के साथ रावण और कृष्ण के साथ कंस का सम्बन्ध है। मूसा के साथ फिर-औन का और ईसा के साथ यहूदी पुजारियों का सम्बन्ध है। हजरत मुहम्मद साहब के साथ मक्का और मदीना के काफिरों का एक समूह था, जिससे वह निरन्तर युद्ध करते रहे।

वेदों का विचार इसके विपरीत है। वेदान्त दर्शन में जहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि ब्रह्म क्या है ? तो उसका उत्तर दिया गया कि वह सर्वोत्तम सत्ता जिससे सृष्टि की रचना, पालन-पोषण और अन्त होता है वही ईश्वर है। यह ईश्वर प्रतिक्षण किसी न किसी वस्तु को जन्म देता और बढ़ाता रहता है। तथा उसको मारता भी है। कुरान में भी तो बहुधा आता है कि ईश्वर वह है जो जीवन से मृत्यु तथा मृत्यु से जीवन देता है। प्रत्येक का जन्म और मृत्यु यदि

उसी के हाथ में है तो उसे स्वयं जन्म लेने या नबी (देवदूत) भेजने की आवश्यकता नहीं। राजा अपने दूतों को वहाँ भेजता है जहाँ वह स्वयं पहुँच नहीं सकता। ईश्वर तो सीमित सत्ता तथा सीमित शक्ति वाला नहीं। यह हुई युक्ति। अब इतिहास की ओर आइए। हम देखते हैं कि मनुष्यों पर कठिन से कठिन दुःख आए, वे पथ से विचलित भी हुए और अविद्या में भी पड़े रहे। परन्तु न तो कोई अवतार हुआ और न कोई नबी या पैगम्बर आया। आज भी बहुत से असभ्य अशिक्षित समाज हैं। इन समाजों पर शासन करने के लिए शक्तिशाली जातियाँ प्रभुत्व स्थापित किया करती हैं। इन समाजों में स्वयं भी बहुत-सी आन्तरिक त्रुटियाँ हैं। जो उनकी सफलता में बाधक होती हैं। परन्तु कोई पैगम्बर या नबी नहीं आता। यदि हजरत ईसा के अवतार की बात सत्य होती तो आज दो हजार वर्षों के भीतर सैकड़ों समाज नष्ट होते रहे कोई ईसा फिर न आया और न मुहम्मह साहब और उनके स्थान पर किसी दूसरे ने जन्म लिया। भारतवर्ष में हत्याएँ होती रहीं, जीवित विधवाएँ अपने मरे हुए पतियों के साथ जलाई जाती रहीं, न कोई अवतार बचाने आया और न कोई पैगम्बर समझाने आया।

इससे ज्ञात होता है कि इस लेख के आरम्भ में जो श्लोक गीता का हमने दिया है वह केवल स्वार्थियों का दम्भ है। परमात्मा मनुष्य के सुधार के लिए न स्वयं आता है और न किसी को भेजता है। वैदिक काल में सैकड़ों ऋषि-मुनि और समाज-सुधारक उत्पन्न हुए। उन्होंने पथ-प्रदर्शन का कार्य भी किया और लोगों को सन्मार्ग से डिगने से भी बचाया, परन्तु उन्होंने कदापि पैगम्बर होने का दावा नहीं किया। वह केवल अपने उस धर्म का पालन करते रहे जो एक

पंडित अपने काल के अज्ञानी समाज के लिए करता है या एक अध्यापक अपने शिक्षार्थियों के लिए करता है। यदि हम प्राकृतिक नियमों को ध्यानपूर्वक देखें तो ज्ञान होता है कि जो काम मनुष्य को करना चाहिए वह ईश्वर स्वयं नहीं करता। यदि आप अपने घर की मरम्मत न करें तो आँधी-बरसात में वह घर गिर जाएगा। ईश्वर अवतार लेकर इस घर की मरम्मत और रक्षा न करेगा। यदि आप अपने शरीर को प्रतिदिन शुद्ध न करें तो परमात्मा आपके मुख को नहीं धोता। परमात्मा प्रेरणा करता है। आदेश नहीं देता। जब हम रात को सोने के पश्चात् सवेरे उठते हैं, तो प्राकृतिक नियमों के अनुसार हमारे हृदय में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि अपने मुँह को शुद्ध करें। मकान साफ किया जाए। ईश्वर स्वयं झाड़ू नहीं लगाता। इसी प्रकार अशिक्षित जनता में शिक्षा की इच्छा तो रहती है, किन्तु ईश्वर स्वयं अवतार लेकर कभी स्कूल या पाठशाला खोलने नहीं आता। प्रेरणा भिन्न वस्तु है, और आदेश भिन्न वस्तु। यदि ईश्वर की ओर से आदेश होता तो कौन-सी शक्ति थी जो उस आदेश की पूर्ति में विघ्न डाल सकती। इसीलिए अवतार लेना या पैगम्बर भेजना यह एक निरर्थक विचार है, वेदों की शिक्षा के विरुद्ध है और इस विश्वास ने धोखेबाजों को दम्भ करने का अवसर प्रदान किया है। जिस मनुष्य में कुछ असाधारण बुद्धि या शक्ति होती है, वही पैगम्बरों का दावेदार हो जाता है।

आर्यसमाज के लोगों पर भी गीता के उपर्युक्त श्लोक का हम बहुधा कुछ न कुछ प्रभाव पाते हैं। बहुधा लोगों को कहते सुना है कि वैदिक धर्म की ग्लानि देखकर ईश्वर ने हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए स्वामी दयानन्द को भेजा। यह प्रश्न है कि क्या वह ईश्वर के

भेजे हुए रसूल या पैगम्बर थे। एक दूसरे स्वामी दयानन्द हुए हैं जो सनातन धर्म के प्रसिद्ध उपदेशक थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'धर्मकल्पद्रुम' में लिखा है कि आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द भी ईश्वर के अवतार थे। यह अवतारों की परम्परा बराबर चल रही है।

महर्षि दयानन्द ने कभी ऐसा दावा नहीं किया। महर्षि दयानन्द की यह स्वाभाविक महत्वाकांक्षा थी कि वह पथ-भ्रष्ट व्यक्तियों को सीधे मार्ग पर लगा दें। उन्होंने जो कुछ किया उसके वह स्वयं उत्तरदाता थे।

महात्मा श्रीकृष्ण ने भी यदि कौरवों को समझाने या पांडवों की सहायता करने का प्रयत्न किया तो वह स्वयं उनकी स्वाभाविक सहानुभूति थी। इसमें न तो ईश्वर के अवतार लेने की आवश्यकता थी और न उसको पैगम्बर भेजने की। महाभारत युग में किसी ने किसी को अवतार नहीं माना। न भीष्म पितामह ने, न युधिष्ठिर ने और न उसके भाइयों ने, न दुर्योधन आदि विरोधियों ने। श्री कृष्ण को अवतार का रूप देने वाले तो महाभारत के बहुत समय के पश्चात् कुछ स्वार्थी मनुष्य हुए जो श्री कृष्ण का नाम लेकर अज्ञानी लोगों को बहकाने और उनकी अज्ञानता से लाभ उठाते रहे।

स्वामी दयानन्द को परमात्मा की ओर से भेजा हुआ रसूल मानना स्वामी दयानन्द की महत्ता को बढ़ाना नहीं वरन् कम करना है। जितने लोगों ने पैगम्बरी का दावा किया है उन्होंने अपने को ईश्वर के हाथ का एक औजार बना रखा है। करता है ईश्वर परन्तु पैगम्बर के हाथ से करता है। आदेश ईश्वर देता है, परन्तु पैगम्बर के मुख से देता है। इससे पैगम्बर केवल ग्रामोफोन का काम देते हैं। वह किसी

काम के लिए स्वयं उत्तरदाता नहीं हैं। स्वामी दयानन्द का ऐसा दावा नहीं है। वह न ईश्वर के अवतार हैं न पैगम्बर। केवल एक समाज सुधारक हैं, जो प्रकृति नियम के अनुसार प्रेरणा पाकर मनुष्य को डिगाने से बचाने का प्रयत्न करते हैं।

उनके ऊपर कोई नवीन नियम नहीं उतरता और न कोई प्राचीन नियम में परिवर्तन की आवश्यकता है। स्वामी दयानन्द के पास कोई दूत किसी स्वर्ग से सन्देश नहीं लाता। महर्षि दयानन्द की शिक्षा में किसी काल्पनिक अर्श, काल्पनिक स्वर्ग या काल्पनिक दूत की आवश्यकता नहीं। वेद की सबसे प्राचीन शिक्षा और ईश्वर की प्राचीन सत्ता यह उसकी प्रेरणा के लिए पर्याप्त है। उन्होंने वही किया जो ऋषि-महर्षि प्राचीन काल से करते आए हैं।

महाभारत के पतन पर सुधार में क्या-क्या प्रयत्न हुए उनका उल्लेख कम आकर्षक न होगा। □

6. अँधेरी रात में प्रकाश किरण

जिसने जन्म लिया है वह मरेगा—यह एक ईश्वरीय नियम है। पंडित भी मरते हैं, मूर्ख भी, वीर भी मरते हैं और कायर भी, वृद्ध भी मरते हैं और तरुण भी, इसलिए यदि महाभारत के युद्ध में भारतवर्ष के विद्वान् और शक्तिशाली लोग मर गए तो कोई आश्चर्यजनक बात नहीं और न शोक की बात है। यदि महाभारत न होता तो क्या भीष्मपितामह न मरते या दुर्योधन या कर्ण की मृत्यु न होती। शर-शय्या पर मरते या निवाड़ की खाट पर, रणक्षेत्र में मरते या घर की कोठरी में, मरना तो एक आवश्यक और अनिवार्य घटना है। परन्तु मरने वालों में विभिन्नता है। एक मरता है तो अपनी सन्तान के लिए उन्नति का मार्ग खोल जाता है। दूसरा मरता है तो उसकी सन्तान नष्ट हो जाती है।

हम सब मरेंगे परन्तु प्रश्न यह है कि हम दायभाग में क्या छोड़ जाएँ ? उन्नति के मार्ग को प्रज्वलित करने वाली मशाल या नाश और पतन को ले जाने वाला अज्ञानता, कायरता और अन्धकार। महाभारत का युद्ध हुआ धर्म के नाम पर। परन्तु जब यह युद्ध समाप्त हुआ तो धर्म भी न रहा और धर्म की दोहाई देने वाले वीर पुरुष भी न रहे। सबसे अधिक निराशा तो श्रीकृष्ण महाराज को हुई। उन्होंने अपने परिवार अर्थात् यादव लोगों को मदिरा, मादकता, अधर्म और समस्त बुराइयों में लिप्त पाया और उन्होंने यद्यपि बड़ी आयु पाई परन्तु थी वह निराशा की आयु। जब हम महाभारत के पश्चात्

की भारतवर्ष की दशा देखते हैं तो अर्जुन के वह शब्द सामने आ जाते हैं जिनका 'गीता' के आरम्भ में उल्लेख किया गया है।

अर्जुन का विरोध यह था कि यदि मैं युद्ध में सम्मिलित हुआ, और अपने पराये के भेद को समाप्त कर अपने धनुष और बाण का प्रयोग किया तो उसका परिणाम देश, समाज और मानवता के लिए अनुचित होगा। धर्म नष्ट हो जाएगा, अज्ञानता की रात आ जाएगी, लोग धर्म भ्रष्ट होंगे, देवियाँ अपने सतीत्व को छोड़ देंगी। सन्तान वर्णसंकर और अयोग्य होगी इसलिए अच्छा है कि मारा जाऊँ परन्तु संस्कृति और धर्म को मारने का कलंक मेरे नाम पर न लगे। श्रीकृष्ण जी की ओर से जो उत्तर गीता में दिया गया है वह सबके समक्ष है। अर्जुन के किसी तर्क का संतोषजनक उत्तर नहीं है। अर्जुन की भविष्यवाणी का कोई विरोध नहीं है केवल यही कहा गया है कि क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना है ननुनच करना नहीं। यदि तू मारा गया तो तुम्हें मोक्ष प्राप्त होगा और यदि तुम जीत गए तो तुम्हें राज्य की बड़ी सम्पत्ति हाथ आएगी। इस प्रकार मरने में भी लाभ है और जीवित रहने में भी।

अर्जुन मरा नहीं इसलिए मोक्ष का प्रश्न तो उठता नहीं। वह विजयी भी हो गया, राज्य भी उसके हाथ आ गया। परन्तु जो पतन महाभारत के समाप्त होने पर आरम्भ हुआ उसकी अवनति की ओर जाने की प्रगति को कोई न रोक सका। यदि केवल वीरों की मृत्यु होती तो इतनी हानि न थी। मृत्यु हुई वीरता की, विद्या की, संस्कृति की। स्वामी दयानन्द मर गए। यदि उन्हें विष न दिया जाता तो भी मरते, किसी और प्रकार से मरते, अमर तो हो नही सकते थे। वह मरे परन्तु वैदिक सभ्यता को पुनर्जीवित करके मरे। समस्त

मानव-समाज के दृष्टिकोंण को बदलकर मरे। महात्मा गांधी मरे। नाथूराम गोडसे की गोली से मरे। यदि नाथूराम अपने ऊपर इस कलंक को न लेता तो भी क्या महात्मा गांधी अमर थे ? क्या उनकी मृत्यु न होती ? होती तो अवश्य परन्तु गांधी जी की मृत्यु ने सारी भारतीय जनता को एक नवीन जीवन प्रदान किया। उनकी हड्डियों और उनकी राख के कण-कण में वह बिजली की शक्ति है जो निराश प्रजा में स्वतन्त्रता की आशा उत्पन्न कर देती है।

महाभारत के पश्चात् हम यह बात नहीं देखते। महाराज युधिष्ठिर को राजगद्दी मिली और एक दीर्घ काल तक इन्द्रप्रस्थ की राजधानी युधिष्ठिर की सन्तान के हाथ में रहीं परन्तु उसके साथ-साथ हम वैदिक संस्कृति की उन्नति का कोई चिह्न नहीं देखते। महाभारत से लेकर हजरत ईसा के एक हजार शताब्दी तक भारतीय राजाओं का शासन रहा। उनमें बहुत से वीर ज्ञानी और पंडित हुए परन्तु यह चार हजार वर्ष का वह काल था जिसमें वैदिक संस्कृति पतन की ओर बढ़ती चली गई और इसी बीच बीसों उन धर्मों का जन्म हुआ जो वैदिक धर्म के विपरीत थे।

मनुस्मृति में हम पढ़ते हैं—

एतद्द्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरेन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।।

अर्थात् भारत के विद्वानों ने ही संसार के अनेक मार्गों में अनेक जातियों को धर्म का उपदेश दिया और दूसरे देशों में जो धर्म की शिक्षा फैली वह उनको भारतवर्ष से ही प्राप्त हुई।

ऐसी बात हम इन चार हजार वर्षों में नहीं पाते। यह अवश्य है कि आरम्भ में भारतवर्ष की शक्ति दूसरे देशों से अधिक रही

और उनकी शिक्षा-दीक्षा और संस्कृति भी उच्च प्रकार की थी किन्तु संसार गुरु के होने की जो पुरानी योग्यता थी वह जाती रही। जर्तुश्त से लेकर मुहम्मद साहब तक भारतवर्ष के बाहर जो धर्म कालान्तर में हुए वह सब महाभारत के पश्चात् की बात है। महाभारत के युद्ध में सारे संसार के वीरों ने भाग लिया परन्तु वह सब वैदिक धर्मी थे चाहे उनका आचरण कैसा ही क्यों न रहा हो। धर्म को परखने के लिए कसौटी तो एक थी, अर्थात् वेद सब धर्मों का मूल है। महाभारत के पश्चात् सबसे अधिक कुप्रभाव धर्म के उस मूल अर्थात् जड़ पर पड़ा। जड़ को पानी देना बन्द हो गया। जड़ के सूखने से वृक्ष के पत्र, शाखा तथा पुष्प सब सूखने लग गए। बिना माली के वाटिका के सूखने पर जो बुलबुलों की दशा होती है वही संसार के लोगों की हुई। जिसमें कुछ बुद्धि हुई वह अपनी बुद्धि के कारण धर्म के नवीन नियमों का प्रचारक बन गया।

जब सूर्य अस्त हो जाता है तो चारों ओर अन्धकार छा जाता है। लोगों के कारोबार में विच्छेद उत्पन्न हो जाता है। उस समय लोग बनावटी दिया जलाते हैं। कहीं-कहीं तो अंधेरे वनों में केवल खद्योत का ही प्रकाश होता है जिससे एक क्षण के लिए अन्धकार समाप्त होता है। केवल कुछ आशा-सी उत्पन्न हो जाती है। कभी बिजली तड़पकर केवल यह प्रसन्नता उत्पन्न कर जाती है कि प्रकाश संसार से समाप्त नहीं हुआ फिर प्रकाश आने की आशा है। इसी अन्धकार के प्रयत्न का परिणाम है दीपक का आविष्कार, मिट्टी के दिये, सरसों या तिल्ली का तेल यह मनुष्य की उस समय की खोज रही होगी। फिर आँधी से दीपक को सुरक्षित रखने के लिए नवीन-नवीन आविष्कार हुए होंगे।

आज विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि संसार को सूर्य की आवश्यकता ही नहीं रही। आधी रात को भी हम दोपहर का प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार मनुष्य समाज ने अपने साधारण व्यवसाय को सुरक्षित रखने के लिए कुछ न कुछ धार्मिक नियम बनाए और उनकी रक्षा भी की। कौन धर्म कहाँ और कब अथवा कैसे उत्पन्न हुआ ? उसमें क्या विकार उत्पन्न हुए ? और उन समस्त विकारों के निवारण के लिए क्या-क्या प्रयत्न धर्म के मानने वालों ने किए यह एक रुचिकर और लाभप्रद कहानी है।

महाभारत के कुछ समय पश्चात् ही जर्तुश्त का काल आता है। उस समय न हजरत मूसा ने जन्म लिया था, न हजरत ईसा ने और न दूसरे नबी या रसूल ने। जर्तुश्त का देश भारतवर्ष के अत्यन्त समीप था। और जर्तुश्त के विचार भी भारतवर्ष के ऋषियों के विचारों से बहुत मिलते-जुलते थे। इसके अतिरिक्त जर्तुस्त की भी भाषा वैदिक भाषा के अधिक समीप है। लगभग वही भेद है जो भैगोलिक दूरी के कारण उच्चारण आदि में पड़ जाता है। पारसियों की पवित्र पुस्तकों में वेद मंत्रों या वेद के देवताओं का वर्णन है। इससे पता चलता है कि प्राचीन वैदिक संस्कृति के प्रभाव ईरान में पाए जाते थे। परन्तु साथ ही साथ इसका भी पता चलता है कि आवागमन का सम्बन्ध टूट-सा गया था। यदि उस काल में ईरान और भारत में वही सम्बन्ध होता जो महाभारत काल में जबकि ईरान के राजाओं ने महाभारत के युद्ध में भाग लिया था तो सम्भव है जर्तुश्त को नवीन धर्म चलाने की आवश्यकता न पड़ती। यह तो हुई भारतवर्ष के बाहर की बात।

भारतवर्ष में भी वैदिक शिक्षा के स्थगित हो जाने से बहुत से धार्मिक परिवर्तन हुए। जिस प्रकार भारत के बाहरी लोगों ने अनेक

प्रकार के दीपकों का आविष्कार किया भारतीय लोग भी इसी प्रकार के प्रयत्न करते रहे और एक वैदिक धर्म के सैकड़ों छोटे-छोटे सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए। इस प्रकार वैदिक धर्म के पश्चात् धर्म की दो धाराएँ हो गई। एक भारत के बाहर और दूसरी भारतवर्ष में। इनमें क्या भेद था ? इसी प्रश्न पर विचार करना है। □

7. यज्ञ और अहिंसा की प्रक्रिया

हम वर्णन कर चुके हैं कि वैदिक धर्म में सर्वप्रथम विकार यह उत्पन्न हुआ है कि सत्कर्मों का स्थान व्यर्थ और अनावश्यक प्रथाओं ने ले लिया। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम दोष 'यज्ञ' शब्द में उत्पन्न हुआ। वैदकि परिभाषा में यज्ञ महत्वपूर्ण और पवित्र शब्द है।

यज्ञ का अर्थ है–'श्रेष्ठ कर्म'। अर्थात् सबसे बड़ा पुण्य का कार्य। यज्ञ का सम्बन्ध न तो अग्नि जलाने से है न बलि देने से। सत्य बालेना यज्ञ है, समाज सेवा है, दान देना यज्ञ है, कर्तव्य को पूरा करना यज्ञ है। बिना आग जलाये भी यज्ञ हो सकता है। ईश्वर की उपासना में जो वैदिक मन्त्र पढ़े जाते हैं वह ब्रह्म-यज्ञ कहलाते हैं। ब्रह्म-यज्ञ में न तो कुण्ड की आवश्यकता है, न घी की, न दियासलाई की, न चमचे की। ईश्वर की भक्ति में हृदय को लगाना ब्रह्म-यज्ञ है। इसी प्रकार माता-पिता की सेवा करना, उनकी आवश्यकताओं को पूरा करना और उनकी सेवा-सुश्रूषा करना यज्ञ है। आहुतियाँ नहीं वरन् प्रेम से उनके आदर-सत्कार करने ही को 'पितृ-यज्ञ' कहा जाता है। जिस प्रकार लोग समझते हैं कि गौ-यज्ञ का अर्थ है गाय की बलि, अश्वमेध यज्ञ का अर्थ है घोड़े की बलि, इस प्रकार पितृ-यज्ञ का अर्थ होना चाहिए माता-पिता की बलि। परन्तु ऐसा अर्थ किसी शास्त्र में नहीं लिया गया। परन्तु महाभारत के पश्चात् जब वैदिक धर्म का पतन हुआ तो यज्ञ का अर्थ किया गया।

"आग जलाकर उसमें पशुओं की बलि।"

यह अज्ञान इसलिए उत्पन्न हुआ कि यज्ञ का एक प्रकार देव यज्ञ भी है। लोगों ने समझा कि देव-यज्ञ कोई स्वर्गीय जीवधारी हैं जिनको पशुओं का मांस प्रिय है। इसलिए सुगन्धित और स्वास्थ्यप्रद पदार्थों के जलाने के स्थान पर बकरी, गाय, भेड़, सुअर आदि के मार डालने की प्रथा प्रचलित हो गई। कल्पित देवी-देवताओं के पुजारी पशुओं की बलि देवताओं के नाम पर करते और उनके एजेण्ट बनकर उस मांस को चट कर जाते। जब लोगों ने कहा कि यज्ञ तो पवित्र कर्म है तुम ऐसे रक्तपात को क्यों उचित समझते हो। तो उन्होंने एक कल्पित सिद्धान्त स्थापित किया कि **जो पशु वेदों की आज्ञा के अनुसार मारा जाता है उसकी हिंसा नहीं होती। उसको तो हम अग्नि द्वारा स्वर्ग पहुँचा देते हैं।**

जब महात्मा बुद्ध ने जन्म लिया तो उसी रक्तपात को देखकर उसे रोकने का प्रयत्न किया। महात्मा बुद्ध को वह साधन प्राप्त न थे कि वेदों की सूक्ष्मतम कठिनाइयों का संशोधन करते और पण्डितों को समझाते कि जिसे तुम मन्त्रों की आज्ञा कहते हो, वह नासमझी है। उन्होंने वेद मन्त्रों और यज्ञों दोनों के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ कर दिया।

यह रोग की चिकित्सा की आकांक्षा तो थी, रोग की उचित जाँच न थी। यदि कोई अनुचित भोजन खाकर अथवा अधिक खाकर रोगी हो जाए तो उसकी चिकित्सा यह नहीं है कि भोजन के विरुद्ध आन्दोलन किया जाए। भोजन की ठीक विधि का बताना ही उचित चिकित्सा है। ऐसा नहीं किया गया। वेदों में बहुधा यज्ञ के साथ गाय का वर्णन हुआ है। गाय यज्ञ का विशेष साधन है। परन्तु जहाँ कहीं

गाय का वर्णन है वहाँ अभिप्राय गाय के दूध या घी से है। ऋग्वेद के भाष्य में **'गोभीः'** अर्थात् 'गायों के द्वारा' इसका अर्थ लिया है **'गोविकारेः'** अर्थात् 'गाय से प्राप्त शुद्ध घी, दूध, दही', न कि गाय का मांस। यह बात अत्योचित थी। बिना दूध घी के कोई यज्ञ नहीं हो सकता। पितृ-यज्ञ के लिए भी दूध चाहिए। अतिथि-यज्ञ के लिए भी दूध-घी चाहिए। परन्तु जब एक बार भूल हो गई तो उसका क्रम निरन्तर चलता रहा। इससे बहुत से सविज्ञ और श्रेष्ठ पुरुषों ने यज्ञ और वेद दोनों का विरोध किया। जो वेद कल्पित देवताओं पर विश्वास रखते हैं या रक्तपात को धर्म बताते हैं वह ईश्वर की आज्ञा नहीं हो सकती। उन्होंने कहना आरम्भ कर दिया कि गाय को मारकर स्वर्ग में पहुँचाने का साधन गाय की बलि है तो आप अपने बन्धुओं और सम्बन्धियों को भी इस सुन्दर साधन से स्वर्ग में क्यों नहीं पहुँचा देते। यदि बुद्ध धर्म के पंडित वेद मंत्रों का स्वाध्याय करके वैदिक धर्म के पंडितों को समझाते तो न वेदों का विरोध होता और न यज्ञों को बन्द करना पड़ता और हिंसा स्वयं समाप्त हो गई होती। परन्तु महात्मा बुद्ध के समय में वेदों का स्वाध्याय साधारण लोगों का स्वाध्याय न था। लोगों की भाषा प्राकृत थी। संस्कृत का रिवाज केवल पंडितों तक सीमित था जो सम्भवतः पूजा-पाठ द्वारा जीविकोपार्जन में व्यस्त रहते थे और अधिक से अधिक दक्षिणा प्राप्त करने के लिए यज्ञ की क्रियाओं को लम्बा करने का प्रयत्न करते थे। जिस प्रकार आजकल बड़े डॉक्टरों ने साधारण औषधियों का नाम भी लातीनी या यूनानी भाषा से ले रखा है। इसी प्रकार यज्ञ करने वाले साधारण वस्तु के लिए भी एक कठिन शब्द का प्रयाग करते थे जिससे उसकी व्यक्तिगत विद्वत्ता का प्रदर्शन हो। आजकल

कोई डॉक्टर अपने नुस्खों में शब्द वाटर (पानी) का प्रयोग नहीं करता। वह यह नहीं कहता कि अमुक-अमुक वस्तु में पानी मिला लो। पानी साधारण शब्द है। बेपढ़ा मनुष्य भी समझता है, परन्तु चिकित्सक कहता है 'ऐकुआ' मिला लो। आप पूछेंगे यह 'ऐकुआ' क्या वस्तु है ? और कहाँ कितने को मिलता है ? आपको आश्चर्य होगा कि आपके घड़े का पानी ही ऐकुआ है। इसी यज्ञ करने वाले पंडितों ने भी साधारण वस्तुओं के नाम कठिन शब्दों में रखे—कटोरी कहने के स्थान में 'प्रणीता' पात्र कहा गया। ऐसा शब्दों को सुनकर अशिक्षित यजमानों पर पण्डितों का प्रभाव छा जाता है।

इसी प्रकार जब यज्ञ में पशु मारे जाने लगे तो उन्हीं पंडितों की बन आई। आजकल भी कलकत्ता की काली माई और विंध्याचल की देवी पर सैकड़ों बकरे चढ़ाए जाते हैं और उनका मांस मुफ्तखोर पुजारियों के पेट में जाता है। यह पशुओं की बलि और **'वैदिक हिंसा हिंसा नहीं है'**। यह विश्वास यहाँ तक बढ़ा कि श्री शंकराचार्य महाराज ने गीता के एक श्लोक का भाष्य करते हुए भी इसी बात की पुष्टि की है। और कालिदास आदि संस्कृत कवियों ने तो अपने काव्यों में इनका अनेक बार वर्णन किया है।

वैदिक यज्ञ की यह प्रथा जब भारतवर्ष के बाहर दूसरे देशों में गई तो वहाँ भी यह भ्रांति बराबर चलती रही। यह देश तो इतने शिक्षित भी न थे। हजरत इबराहीम का हमने ऊपर उल्लेख किया है जो महाभारत के कई सौ वर्ष पश्चात् हुए बताए जाते हैं। पाँच सौ साल का दीर्घ काल और कई हजार मीलों की दूरी। काल तथा स्थान की विभिन्नता ने इस अनर्थता को और बढ़ा दिया। हजरत इबराहीम ने एशिया के पश्चिमी दक्षिणी प्रदेश में जन्म लिया।

यहाँ के लोग केवल गड़रिये थे, भेड़ें चराना उनका व्यवसाय था यहूदियों के समस्त पूर्वज इसी वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। इसलिए हजरत हबराहीम से यह आशा करना बेकार होगा कि वह यज्ञ की पवित्र प्रथा के विषय में कुछ छानबीन कर सकते। उन्होंने यज्ञ में पशुओं की बलि की प्रथा को अपने बीच में प्रचलित पाया और उसी के अनुसार कार्य करना उचित समझा। ईश्वर के लिए प्रिय वस्तु की बलि देने के लिए हजरत इबराहीम की ईश्वर-भक्ति का पवित्र उदाहरण दिया जाता है। यह समीचीन भी है। इबराहीम ऐसे दृढ़ विश्वासी थे कि वह केवल एक स्वप्न के आधार पर अपने पुत्र इस्माईल की बलि देने के लिए उद्यत हो गए। परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि हिन्दू लोग अनेक देवी-देवताओं पर विश्वास रखते हैं। एक ईश्वर पर विश्वास रखने वाले हजरत इबराहीम को कैसे विश्वास हो गया कि वह ईश्वर भी हिन्दुओं के देवताओं की भाँति मांस को खाना पसन्द करता है। परन्तु हमको ज्ञात होता है कि हिन्दुस्तान की कथा-कहनियाँ भी उन देशों में गईं और यहूदी धार्मिक कथानकों में यज्ञ का विशेष भाग सम्मिलित हो गया।

हजरत आदम के दो पुत्र बताए जाते हैं। हाबील और काबील। दोनों ने अपने उपहारों को ईश्वर की सेवा में प्रस्तुत किया। हाबील ने वनस्पति और काबील ने पशु। जंगली लोगों में जो मूल्य मांस का है वह वनस्पति का नहीं। आजकल भी पश्चिमी सभ्य लोगों में मांस का सेवन न करना मूर्खता समझी जाती है।

एक पादरी हुए हैं हीवट। वह कवि भी थे। उन्होंने एक कविता लिखी है 'ओन गंगाज़ ब्रेस्ट' (On Ganga's Breast) इस कविता में यात्रियों के एक दल का वर्णन किया गया है, जो गंगा के तट

पर पड़ाव डाले हुए अपना भोजन पका रहा था। वहाँ मुसलमानों के लिए लिखा है कि वह स्वादिष्ट भोजन बना रहे थे और हिन्दू भी अपना सादा (अर्थात् साग पात का) भोजन पका रहे थे। इन शब्दों से पादरी साहब के विचारों का पता चलता है। यहूदियों के ईश्वर को काबील का चढ़ाया हुआ मांस पसन्द आया और हाबील का उपहार स्वीकार न हो सका। काबील ने हाबील को मार डाला।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ और यज्ञ में पशुओं को मारना यह यहूदियों के साहित्य में हज़रत आदम के समय से चला आता है। मैंने कई मुसलमानों से पूछा है कि जब आप देवी-देवताओं पर विश्वास नहीं करते तो गाय की बलि क्यों देते हैं। परन्तु मुसलमानों के लिए सुधारक बुद्धि रखना कठिन है। वह चूँ व चरा (ननु नच) करना भी कुफ्र (अधर्म) समझते हैं। हर दृढ़ विश्वास रखने वाला मुसलमान आज भी चौदह शताब्दी पूर्व की बात सोचता है। वह केवल यही कहते हैं कि यदि हज़रत इबराहीम ने किसी प्रथा को चलाया तो हम कौन हैं कि बुद्धि को बीच में लाकर परिवर्तन कर सकें। हजरत इबराहीम ने सुधार तो किया परन्तु बिना छान-बीन के किया। उनकी भावना अच्छी रही हो परन्तु रोग का पता चलाना बुद्धिमान चिकित्सक का कार्य है। रोग के निवारण की इच्छा तो हर रोगी और परिचारकों की होती है। रोग दूर करने की इच्छा सुधार नहीं है। रोग का निदान अत्यावश्यक वस्तु है। महाभारत के पश्चात् जो धर्म-सुधारक या समाज-सुधारक हुए उन्होंने केवल रोगों को बाह्य बातों की चिकित्सा की, वास्तविक चिकित्सा नहीं कर सके।

इसलिए एक रोग गया तो उससे अधिक बड़ा रोग उत्पन्न हो गया। महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का प्रचार किया परन्तु नास्तिकता रूपी

भयानक रोग गले लग गया। यज्ञों में सुधार तो न हुआ यज्ञ भी समाप्त हो गया और अहिंसा यह तो केवल नाम ही नाम है। बौद्ध देशों में मांस की प्रथा इस प्रकार बढ़ी हुई है कि हराम हलाल में भी विवेक नहीं है। हजरत इबराहीम की बलि की प्रथा तो आजकल साम्प्रदायिक कलह का ही कारण बनी हुई है। कोई यह नहीं कहता कि हजरत इबराहीम ने तो अपने प्रिय पुत्र की बलि के लिए तैयारी की थी तुम गाय को प्रियतम तो नहीं समझते, परन्तु प्रथाएँ हैं। इसी का नाम है लकीर के फकीर होना। हजरत इबराहीम के लिए तो छान-बीन के साधन प्राप्त न थे इसलिए यदि उन्होंने अधिक छान-बीन नहीं की तो वैदिक छान-बीन के मार्ग भी खुले हुए हैं। परन्तु इनकी बुद्धि कुछ ऐसी हो गई है कि धार्मिक कुरीतियों के मूल कारण तक पहुँचना उनके लिए कठिन है।

भारतवर्ष में महात्मा बुद्ध के पश्चात् कुमारिल भट्ट और स्वामी शंकराचार्य का नम्बर आता है। भारतवर्ष के बाहर हजरत इबराहीम के पश्चात् हजरत मूसा और हजरत ईसा आदि जन्म लेते हैं। बीच में छोटे-बड़े सुधारक हुए होंगे जिनको साहित्य के पृष्ठों में शोभा पाने का महत्व नहीं प्राप्त हो सका। प्रकृति किसको अमर बनाती है और किसके नाम को तुरन्त नष्ट कर देती है यह एक कठिन प्रश्न है। प्रत्येक मनुष्य अपने पश्चात् अपनी कीर्ति भी छोड़ता है और नाम भी। काम का प्रभाव भी उसके भविष्य पर पड़ता है और नाम का भी। परन्तु काम का प्रभाव तो बहुत काल तक रहता है, नाम को लोग भूल जाते हैं। इसका एक दृष्टान्त है महाद्वीप अमेरिका की कहानी। आपने संयुक्त देश अमेरिका और कनाडा का नाम सुना होगा। वर्तमान काल में तो भारत सरकार और अमेरिका सरकार

के सम्बन्ध इतने गहरे हैं कि हम प्रतिदिन समाचार-पत्रों में इनकी घटनाओं का वर्णन देखते रहते हैं। यह देश अमेरिका कहलाता है क्योंकि इटली एक समुद्री यात्री अमरीगो वेस पकसी ने इसका पता लगाया था। परन्तु महाद्वीप अमेरिका की सर्वप्रथम खोज करने वाला व्यक्ति कोलम्बस था। देश का नाम कोलम्बिया होना चाहिए था परन्तु कोलम्बस को लोग केवल साहित्यिक दृष्टि से स्मरण करते हैं। अमरीगो का नाम अमरीका के साथ अमर हो गया।

हजरत इबराहीम के पश्चात् विशेष पैगम्बर का नाम है मूसा। मूसा एक समाज-सुधारक थे। उन्हीं के समय में फिर्ओन जैसा ईश्वर से भय न खाने वाला उत्पन्न हो गया था, जो अपने को ईश्वर कहते थे और 'हमारे समान कोई नहीं है' की उक्ति को मानते थे। ऐसे शासक की प्रजा भी अपने शासकों के सिद्धान्तों का अनुसरण करती है। इसी प्रकार की और लगभग उसी समय की गाथाएँ हिरण्यकश्यप और प्रह्लाद की पौराणिक गाथाओं में प्रसिद्ध हैं।

कहा जाता है कि हिरण्यकश्यप को ईश्वर के नाम से चिढ़ थी और जब उसका पुत्र प्रह्लाद ईश्वर की भक्ति की ओर झुकता था तो उसके पिता को बड़ा क्रोध आता था। भारतवर्ष में प्रह्लाद की सहायता के लिए ईश्वर नरसिंह का अवतार लेता है। फिओंन की नास्तिकता को समाप्त करने के लिए मूसा प्रयत्न करते हैं। मूसा को ईश्वर भेजता है। नरसिंह 'स्वयं ईश्वर ही है' अर्थात् ईश्वर का अवतार। ज्ञात ऐसा होता है कि जब कोई सुधारक जन्म लेता है तो उसके महान् कार्य को देखकर उसे ईश्वर या ईश्वर का प्रतिनिधि मान लेते हैं। वास्तव में न तो वह ईश्वर होते हैं और न ईश्वर के भेजे हुए होते हैं। परन्तु अशिक्षित लोगों में विश्वास उत्पन्न करने

के लिए लोकोत्तर शक्तियों की आवश्यकता समझी जाती है।

महात्मा बुद्ध और हजरत ईसा की शिक्षा में बहुत कुछ समानता है। यह आकस्मिक है या समकालीनता का प्रभाव हो। इसमें संशय नहीं कि बुद्ध धर्म के भिक्षु एक समय में सारे संसार में फैल गए थे। आजकल हम नदी नाले पहाड़ और जंगलों को पार करने के लिए भाप बिजली आदि की सहायता लेते हैं। महात्मा बुद्ध के भिक्षुओं ने गेरुए कपड़े और लाठी लेकर सारे संसार को छान डाला था। ईरानी मूर्ति के लिए शव्द 'वुत' का प्रयोग करते हैं। यह बुत केवल 'वुद्ध' का बिगड़ा हुआ रूप है। बुद्ध की मूर्तियों को पूजने की प्रथा इतनी सर्वव्यापी हो गई थी कि लोग ईश्वर को भूल गए थे। नास्तिकता ने अधिकार प्राप्त कर लिया था। इसलिए जनता को आवश्यकता पड़ी कि मूर्तियों के स्थान पर एक ईश्वर की पूजा प्रचलित करें। भारतवर्ष में वुद्ध और जैन धर्म की मूर्तियों का इतना प्रचार हुआ कि लोग वैदिक ब्रह्म-पूजा को भूल गए।

टालस्टाय ने जो रूस का एक महापुरुष हुआ है एक स्थान पर लिखा है कि जब ईश्वर की पूजा को लोग छोड़ देते हैं तो सैकड़ों छोटे-छोटे ईश्वरों को मानने लगते हैं। इस प्रकार पूजा से तो छुटकारा नहीं होता, ईश्वर से हो ज़ाता है। महात्मा बुद्ध और महावीर का कहना तो यह था कि कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसने संसार को बनाया हो और जिसको जगत् का कर्त्ता या रचयिता समझा जाए। सम्भव है इसका कारण यह रहा हो कि लोगों ने ईश्वर के साथ कल्पित गुणों का सम्बन्ध जोड़ लिया होगा और ईश्वर की सत्ता की उपेक्षा करके किसी ऐसे ईश्वर को मानने लग गए होंगे जिसे प्रसन्न करने के लिए बलि देनी पड़ती है। परन्तु यह एक बाह्य तथा गौण चिकित्सा थी

इसलिए एक रोग ने बहुत से रोगों को जन्म दिया। लोग ईश्वर को भूल गए और प्रत्येक बुद्ध या जैन महात्मा या सन्त ही ईश्वर माना जाने लगा और उसकी मूर्तियाँ पूजी जाने लगीं। कुमारिल भट्ट और स्वामी शंकराचार्य ने इसी दोष का सुधार किया। यद्यपि इन दोनों महात्माओं के सुधार की रीतियाँ भिन्न-भिन्न थीं। बुद्ध और जैन धर्मों ने यज्ञों को समाप्त कर दिया। कुमारिल ने यज्ञों का पुनरुद्धार किया और वेदों तथा वैदिक कर्मों की ओर रुचि उत्पन्न की। स्वामी शंकराचार्य ने एक नवीन पथ को अपनाया। उन्होंने 'ब्रह्म सत्य' और 'जगत् मिथ्या' के दर्शन की आधारशिला रखी। शंकराचार्य कर्मकाण्ड के विरुद्ध थे। उन्होंने यज्ञों को पूर्णरूप से समाप्त तो नहीं किया क्योंकि गीता के भाष्य से पता चलता है कि वह वैदिक कर्मकाण्ड के इतने विरोधी न थे जितने कि बौद्ध या जैन। परन्तु उन्होंने कर्मकाण्ड को अविद्या का एक भाग माना है। हजरत मूसा ने दूत होने की घोषणा की। उन्होंने कुछ चमत्कार भी दिखाया जिससे पता चल जाए कि वह ईश्वर के प्रतिनिधि थे। जादूगरों की चालाकियाँ भारतवर्ष में भी प्रसिद्ध थीं और दूसरे देशों में भी। मूसा ने जादू किया। फिरओन ने अपने जादूगरों को बुलाया। दोनों पार्टियों में संघर्ष हुआ, मूसा का जादू चल गया। भारतवर्ष में जादूगर पाए जाते थे। स्वामी शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिए जादूगरों का दृष्टान्त दिया है। परन्तु स्वामी शंकराचार्य जादूगरों को चैलेंज नहीं करते, दर्शन की तुलना दर्शन से करते हैं। उस समय में बुद्ध धर्म की एक शाखा थी जो जगत् को मिथ्या या कल्पित मानती थी और जादूगर की भाँति असत्य ठहराती थी।

इसके विपरीत मूसा ने यह नहीं कहा कि यह जादूगरी कल्पित

या मिथ्या है। कुर्आन शरीफ आदि में जादू का वर्णन आता है। जादूगर जादू कैसे करता है इसका कोई वर्णन नहीं। शंकराचार्य जादू को केवल हाथ की सफाई बताते हैं जैसा कि वास्तव में है। हजरत मूसा न केवल ईश्वर के प्रतिनिधि ही होने का दावा करते हैं वरन् उनके ऊपर ईश्वर की वाणी आती है। वह एक कोड या विधान के रूप में आती है। और इसके द्वारा वह इसराइल के विभिन्न फिरकों में त्रुटियों का सुधार करते हैं जैसा कि बाइबिल की आरम्भिक पुस्तको में दिया हुआ है। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य वेदों और उपनिषदों को सामने लाते हैं जो भारतवर्ष की प्राचीन पुस्तकें थीं। हजरत मूसा की 'तौरात' एक नवीन रूप को अपनाती है। हजरत मूसा से पूर्व कोई पवित्र पुस्तक थी या नहीं और उसके पश्चात् क्या परिस्थिति हुई इसका ठीक पता नहीं चलता। पाश्चात्य धर्मों का यह ध्येय रहा कि नया शासक और नया नियम हर नबी नवीन उपदेश लाता है जो पहले नियमों को हटा देता है। भारतवर्ष के लोग गौण बातों में परिवर्तन करते हैं मूल में नहीं। इसलिए न तो कुमारिल भट्ट ने वेदों से इनकार किया न स्वमी शंकराचार्य ने। परन्तु कुछ ऐसा दुर्भाग्य अवश्य रहा कि ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के बीच में एक बहुत बड़ी खाई उत्पन्न हो गई और वह प्रतिदिन बढ़ती गई। स्वामी शंकराचार्य ने वेदान्त दर्शन भाष्य की बहुत लम्बी भूमिका लिखी जिसका नाम 'चतुःसूत्री' है। इसमें कर्मकाण्ड का घोर खण्डन किया है। इससे पूर्व यह समझा जाता था कि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। पहला भाग पूर्व मीमांसा है जिसमें 12 अध्याय अर्थात् 60 पाद हैं। दूसरा वेदान्त जिसमें चार अध्याय और 16 पाद हैं। परन्तु शंकराचार्य ने पूर्व मीमांसा और कर्मकाण्ड दोनों का घोर

विरोध किया है।

कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य दोनों सुधारक थे। वे प्रचलित रोगों की चिकित्सा करना चाहते थे। परन्तु वह महाभारत के प्राचीन धर्म का उद्धार न कर सके। एक रोग गया तो दूसरा रोग उससे अधिक भयंकर रूप में उत्पन्न हो गया। जगत् मिथ्या है, स्वप्न है, कल्पना है। इस विचार ने इतना जोर पकड़ा कि सारा समाज अपने को स्वप्न देखने वाला समझते। ◻

8. ज्ञान-कर्म-भक्ति मार्ग

कुमारिल भट्ट और स्वामी शंकराचार्य बड़े महान् सुधारक थे। उनका ज्ञान बहुत विस्तृत था। उन्हें जैनियों और बौद्धों की नास्तिकता तथा अवैदिकता को दूर करने में वहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई। बौद्ध धर्म तो भारतवर्ष को छोड़कर भाग गया। परन्तु उनकी सफलता केवल दार्शनिक सीमा तक सीमित रही। जैनियों और बौद्ध दोनों में दार्शनिक गुत्थियाँ उत्पन्न हो गई थीं। उनके विरोधी तत्व ने जो दार्शनिक प्रयत्न आरम्भ किया, वह भी थोड़े पण्डितों के मनोरंजन का साधन बना रहा। साधारण लोगों के दैनिक जीवन, सभ्यता, रहन-सहन, राजनीति आदि में कोई सुधार नहीं हुआ। दार्शनिक एकता भी देखने में नहीं आती, भारतवर्ष के प्रसिद्ध वैदिक दर्शन भी एक-दूसरे के विरोधी रहे। वेदान्तियों का कहना था मीमांसका मांसलप्रज्ञाः अर्थात् मीमांसा वाले मूर्ख होते हैं। न्याय और वैशेषिक को वह अर्ध नास्तिक कहते हैं। योग और सांख्य को श्री शंकराचार्य ने अमान्य माना है। यदि लोगों के हृदय में श्रुति अर्थात् वेद के लिए कुछ घृणा उत्पन्न हो गई तो उसका जनता पर कोई प्रभाव न हुआ। जनता में मूर्ति-पूजा ही प्रचलित रही, चाहे जैनियों की मूर्ति हो या बौद्धों की, चाहे पौराणिक हिन्दुओं की। मायावाद और स्वप्नवाद ने इतना जोर पकड़ा कि कर्मशीलता में बाधा पड़ने लगी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में बहुत अच्छा लिखा है।

'इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहन्ति'

(ऋग्वेद मण्डल 8 , सूक्त 2, मन्त्र 18) अर्थात् देव कर्मशील मनुष्य को पसन्द करते हैं सोये हुए को नहीं चाहते।

भारतवर्ष के पण्डितों में मायावाद और स्वप्नवाद का प्रचार देखकर और उसके विषैले प्रभाव से क्षुभित होकर कुछ ऐसे दार्शनिक पण्डितों ने जन्म लिया जिन्होंने भक्ति-मार्ग को जन्म दिया और शंकराचार्य के मत का विरोध किया। विशिष्ट अद्वैत, द्वैत अद्वैत आदि मत उत्पन्न हो गए। ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग की आपस की लड़ाई ने भक्ति मार्ग को आवश्यकतानुसार प्रोत्साहित किया। अहं ब्रह्म और जगत् मिथ्या में उपासक उपास्य और उपासना तीनों के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

कर्मकाण्ड जिसका पक्ष कुमारिल भट्ट आदि लोगों ने लिया था वह भी एक समझ में नहीं आने वाला (अनिरुक्त) कर्मकाण्ड था। केवल यज्ञों का नाम 'कर्म' था। सांसारिक उन्नति के लिए अनेक अच्छे कर्मों की आवश्यकता होती है। अर्थात् खेती, व्यवसाय, राजनीति, वर्णाश्रम धर्म। ये 'कर्म' में नहीं गिने जाते थे। 'यज्ञ करो स्वर्ग मिलेगा' यह प्रसिद्ध था। यज्ञ क्या है ? स्वर्ग क्या है ? यह समस्त रहस्य चिन्तन के विषय न थे। परन्तु जब इन रोगों की चिकित्सा भक्ति-मार्ग वालों ने की तो इसकी आधारशिला भी प्राकृतिक सिद्धांतों पर नहीं रखी गई। अन्ध-विश्वास का नाम भक्ति पड़ गया। इसलिए दो ही प्रतिद्वन्द्वी थे अर्थात् ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। अब एक तीसरे शत्रु की वृद्धि हो गई अर्थात् ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग। इन तीनों मार्गों में इतना घोर विरोध हुआ कि जितने महात्मा उत्पन्न हुए उन्होंने मुक्ति की प्राप्ति के लिए श्रुति अर्थात् वेदाध्ययन को आवश्यक न

समझा। नाम, जाप की प्रथा उसी काल की विशेषता थी। 'रामराम जपो ! पढ़कर क्या करोगे ? व्याकरण की क्या आवश्यकता है ? दर्शन शास्त्र की क्या आवश्यकता है ? सारा जीवन एक शास्त्र के अध्ययन में समाप्त कर देना यह मूर्खता नहीं है तो क्या है ? किताबों में धरा क्या है ? बहुत लिख-लिख के धो डालीं।

'हमारे दिल पर नक्श
कल्हजर है तेरा फ़रमाना'

इससे वेदों का अध्ययन छूट गया। यदि कुछ वेदपाठी बचे तो वह बेचारे अकिंचन जीवन व्यतीत करते रहे। उन्होंने किसी प्रकार से वेद को समूल (पूर्ण रूप) नष्ट होने से बचा लिया। परन्तु अप्रसिद्धि से न बचा सके। नाना पंथी, दादुपंथी, नारायणपंथी आदि बीसियों पंथ स्थापित हो गए। उन्होंने वेदों को छोड़कर अपने गुरुओं की वाणी को ही ईश्वर-प्रदत्त समझा। इसलिए यदि कुछ सुधार हुआ भी तो वह भी केवल आंशिक और एकांगी था। गुरुओं ने जो कुछ सुधार किया था वह निरर्थक सिद्ध हुआ। उदाहरण के लिए ट्रावनकोर की एक घटना लीजिए।

ट्रावनकोर में एक धार्मिक सुधारक ने जन्म लिया। उन्होंने एक ईश्वर की पूजा का प्रचार किया और मूर्ति-पूजा का विरोध किया। परन्तु मैंने देखा कि जब उनके अनुयायियों का मेला लगता है तो वह मूर्ति तो नहीं पूजते परन्तु महात्मा जी के चिह्नों की अन्य वस्तुओं अर्थात् कपड़े आदि की पूजा करते हैं। बाबा नानक मूर्नि पूजक न थे परन्तु शिष्य लोग ग्रन्थ पूजक या कागज पूजक हो गए। बात वहीं की वहीं रही। रोग वही रहा केवल रूप बदल गया।

इस सम्बन्ध में अपना एक अनुभव बताता हूँ। शायद 1950

की बात है। मैं नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में था, बहुधा प्रातः घूमने के लिए इधर-उधर निकल जाता था। एक दिन मैंने देखा कि सड़क पर चलने वाले एक पथिक ने एक मन्दिर को सड़क के किनारे देखकर हाथ जोड़े। मैंने पूछा कि यह किसका मन्दिर है ? उसने उत्तर दिया 'भगवान का'। मैंने पूछा, 'क्या देवी का ?' उसने कहा 'हाँ'। मैंने पूछा, 'महादेव का ?' उसने उत्तर दिया 'हाँ'। मैंने पूछा, 'बुद्ध भगवान का ?' उत्तर मिला 'हाँ'। वास्तव में उसे कुछ पता नहीं था कि मन्दिर किसका है ? मूर्ति किसकी है ? जिसकी मूर्ति है ? वह कौन था ? उसे तो केवल यह पता था कि कोई हो उसे तो केवल भक्ति प्रकट करना है उसे इससे क्या ? उपास्य देव कौन है और कैसा है।

हमको सोने से मतलब है,
न पीतल से गरज।
कोई शै चाहिए
भक्तों की तसल्ली के लिए।।

आजकल सनातन धर्म की जो स्थिति है वह इसी प्रकार की जो अन्धविश्वासियों की है। हर पीपल का पत्ता देवता का पत्ता, देवता का घर और वस्तु उपास्यदेव।

ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग तथा भक्ति मार्ग की थोड़ी-सी आलोचना कर देना अनुचित न होगा। थोड़ा विचार करें कि भूल कहाँ पर है। ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और भक्तिकाण्ड या उपासनाकाण्ड ये तीन काण्ड प्रसिद्ध हैं। साथ ही ज्ञान मार्ग। कर्म मार्ग तथा भक्ति मार्ग ये तीन मार्ग प्रसिद्ध हैं। मार्ग क्या है ? और काण्ड क्या हैं ! इन शब्दों के शाब्दिक अर्थ पर विचार करें। मार्ग का अर्थ है- 'पथ'।

इसे आप अरबी शब्द 'मजहब' का भी पर्याय समझ सकते हैं। मजहब या मार्ग या रास्ता क्या है ? आप अपने स्थान को छोड़कर किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो रास्ता अपनाते हैं वही मार्ग है।

जैसे आप कानपुर से लखनऊ को जाते हैं। एक रास्ता सीधा होता है परन्तु सीधे रास्ते के अतिरिक्त कई और रास्ते भी हो सकते हैं जो आपको आपके लय तक पहुँचा सकेंगे। परन्तु उन मार्गों की अपनी निज विशेषताएँ (दोष या गुण) कुछ भी क्यों न हो। एक शर्त है। आप एक समय में कई मार्गों पर नहीं चल सकते। एक मार्ग को पकड़ेंगे तो दूसरों को छोड़ना पड़ेगा। कानपुर से लखनऊ पहुँचने के लिए एक दूसरा मार्ग भी है जो सीधे मार्ग से भिन्न अर्थात् टेढ़ा है। काण्ड शब्द का अर्थ भिन्न है। काण्ड वह स्तम्भ है जिस पर घर खड़ा किया जाता है। जिस घर को खड़ा करने के लिए 4 स्तम्भों की आवश्यकता होती है वह घर तीन खम्भे के सहारे खड़ा नहीं किया जा सकता। चारों स्तम्भों का आपस में सहयोग चाहिए।

इसी प्रकार काण्ड और मार्ग दो भिन्न शब्द हैं। दो विभिन्न प्रकार की दशाएँ उत्पन्न करते हैं। वैदिक दर्शन में तीन काण्डों का वर्णन आता है, अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीन काण्ड चाहिए ज्ञान काण्ड अर्थात् ज्ञान का स्तम्भ, कर्मकाण्ड अर्थात् कर्म का स्तम्भ और उपासना काण्ड अर्थात् ईश्वरीय प्रेम। यदि इन स्तम्भों में से एक भी कमजोर है तो मुक्ति नहीं मिल सकती। परन्तु जिन लोगों ने काण्ड का शब्द छोड़कर उसके स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है उन्होंने कहा कि हम केवल एक मार्ग पर चलकर ही मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे। तीनों मार्गों पर चलना कठिन भी है और आवश्यक भी। इसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि ज्ञान, कर्म और उपासना

में भेद हो गया। साम्प्रदायिक विभाजन हो गया। और साथ ही साथ परस्पर ईर्ष्या भी बढ़ गई। पण्डितों ने सन्तों की उपेक्षा की। सन्तों ने दुनियादारों की निन्दा की। राममात्र जाप करने वालों ने वेदों का पढ़ना अनावश्यक समझा, अज्ञानी साधुओं का मान बढ़ा, सांसारिक उन्नति स्थगित हो गई और सांसारिक उन्नति के न होने से धर्म भी हाथ से गया।

'नीम हकीम खतरे जान,
नीम मुल्ला खतरे ईमान।'

जब तक हमारा ज्ञान काण्ड प्रौढ़ न होगा हम अज्ञानी रहेंगे और सांसारिक कर्तव्यों को पूरा न कर सकेंगे और धार्मिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं कर सकते।

'कि बेइल्म तनबां खुदारा शनाख्त'

फारसी के प्रसिद्ध कवि 'सादी' कहते हैं कि अज्ञानी ईश्वर को नहीं पहचान सकता। उसके लिए मिट्टी पत्थर सब बराबर। उसके लिए सारे पीर देवदूत एक से।

जिसका कर्मकाण्ड दृढ़ नहीं उसके लिए ज्ञान का कोई मूल्य नहीं। क्योंकि ज्ञान है कर्म के लिए। केवल भूगोल पढ़कर कोई यात्री नहीं बन सकता जब तक कि यात्रा न करे। मोती लेने के लिए समुद्र में डुबकी लगाना ही पड़ेगा। यदि विद्या भी प्राप्त की और प्रयत्न भी करते रहे और ईश्वर से प्रेम नहीं उत्पन्न हुआ तो ज्ञान तथा कर्म दोनों व्यर्थ ! क्योंकि लक्ष्य तो दोनों का एक ही है।

□

9. देश-विदेश में सुधार का प्रयत्न

भारत के बाहर भी सुधार होते रहे यद्यपि स्थिति में परिवर्तन होने के कारण उन सुधारों में कुछ भेद था। जिस प्रकार साधारण हिन्दुओं में मौलिक धर्म को छोड़कर प्रथाओं का अनुकरण ही आवश्यक समझा गया उसी प्रकार हजरत मूसा के पश्चात् यहूदियों में भी प्रथाओं को ही धर्म समझ लिया गया। जैसे हिन्दुओं में ऊँच-नीच का भेदभाव है उसी प्रकार यहूदियों में भी था। इस परिस्थिति के सुधार के लिए बहुत से सुधारक हुए और उनको 'नबी' या 'पैगम्बर' समझा गया।

हजरत मूसा ने यहूदियों का वैसा ही सुधार किया जैसा महात्मा बुद्ध ने भातरवर्ष में किया था और जैसे भारतवर्ष के लोगों ने अपने सुधारकों का विरोध किया वैस ही यहूदियों ने भी किया। महात्मा बुद्ध को किसी से द्वेष न था परन्तु फिर भी लोग उनके शत्रु थे, उनका भाई देवदत्त स्वयं उनका विरोधी था। इसी प्रकार हजरत ईसा का भी यहूदियों ने विरोध किया और उसे सूली पर चढ़ा दिया।

सुधारकों का कार्य वड़ा कठिन होता है। रोगी डॉक्टर को बुलाता है, उसकी फीस देता है, उसकी चिरौरी करता है, परन्तु सुधारकों का भाग्य बड़ा निराला होता है। जो साम्प्रदायिकता या दुराचार के रोग में ग्रसित हैं वे डॉक्टर के कृतज्ञ होने के स्थान में जानी दुश्मन हो जाते हैं। ईसा के साथ ऐसा ही हुआ परन्तु जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के पश्चात् बुद्ध धर्म स्वयं प्रथाओं का शिकार हो गया, और कभी परस्पर अविश्वास के आधार पर, कभी दार्शनिक त्रुटियों के

कारण और कभी केवल स्वार्थ, ईर्ष्या और क्रोध के परिणाम फलस्वरूप वौद्धों की दशा में विकार उत्पन्न हो गया, इसी प्रकार ईसाई लोग भी अलग-अलग दल बन्दी में पड़ गए। ईसा के साथ चमत्कार (मौजैज़ात) और प्रथाओं को फैलाने वाली कहानियाँ बन गईं। हजरत ईसा एक पवित्र पुरुप थे। उनके अनुयायियों ने उन्हें ईश्वर का इकलौता पुत्र प्रसिद्ध कर दिया। इसके पश्चात् ईसाइयों और यहूदियों में आपस के झगड़े होने लगे। जो हजरत ईसा सुधार और शान्ति के राजदूत वताए जाते हैं उन्हीं के नाम पर यहूदियों का यहाँ तक विरोध किया गया कि जब ईसाई और मुसलमान राजाओं के हाथों में दुनिया के विभिन्न देशों का शासन मिल गया तो यहूदियों को कहीं वसने के लिए स्थान न मिला और वे एक दीर्घकाल तक ईसाइयों और मुसलमानों के अत्याचारों के शिकार बने रहे। उधर यहूदियों ने अपने ऊपर अन्याय करने वालों का विरोध किया और अपनी रक्षा के लिए बहुत से उपाय किए। इसी प्रकार यहूदियों और ईसाइयों में झगड़े होते रहे।

भारतवर्ष के सुधारकों और भारत के बाहरी सुधारकों में एक बड़ा भेद रहा जिसका वर्णन कम लाभदायक न होगा।

भारत के अन्दर जो अवतार, महंत और सन्त उत्पन्न हुए उन्होंने यद्यपि वेदों को छोड़ दिया परन्तु वैदिक संस्कृति के साधारण नियमों को रहने दिया। जैनियों और बौद्धों की संस्कृति में अधिक भेद न था, भाषा वही रही। अहिंसा आदि सभ्यता के सिद्धान्त वही रहे। संस्कृति के जो मौलिक सिद्धांत समझे जाते हैं उनमें अधिक भेद नहीं है। राम, कृष्ण आदि अवतारों की शिक्षा में विभिन्नता है ही नहीं परन्तु भारत के बाहर जो पैगम्बरों और दूतों का क्रम आरम्भ

हुआ उनमें विभिन्नता भी अत्यधिक मात्रा में रही और उन्होंने सभ्यता और समाज पर भी प्रभाव डाला। राम ने कभी नहीं कहा कि मैं ईश्वर हूँ। वैदिक ऋपियों में से किसी ने कभी यह नहीं कहा कि वह ईश्वर का भेजा हुआ है परन्तु पैगम्बरों में से कोई एक पैगम्बर भी ऐसा नहीं हुआ जिसने पैग़म्बर होने तथा 'वही' लाने का दावा नहीं किया। रूहुल्कुदुस हो या हजरत जिबरईल या कोई और दूत हो यह कोई न कोई आसमानी शक्ति इलहाम लाने का दावा करती रही और पुराने इलहाम को समाप्त (मन्सूख) करके नवीन नियम चलाने पर बल देती रही। हजरत मुहम्मद साहब ने हजरत ईसा और हजरत मूसा को पैगम्बर तो माना है परन्तु (मनसूख शुदा) पैगम्बर। उनके बनाए हुए नियम को मनसूख (परित्यक्त) कर दिया है। यह नियम शायद इसलिए माना गया कि पुरातन संस्कृति का नाम-निशान समाप्त हो जाए और नये शासक की आज्ञा रह जाए। पैगम्बरों के दावे के सुधार के लिए कोई कसौटी नहीं थी इसके अतिरिक्त कि ईश्वर की ओर से दूत आता है और वह पैगम्बर साहब के कान में कह जाता।

क्या प्रमाण कि वह पैगम्बर साहब की बुद्धि का गढ़ है या ईश्वरीय वाणी है। भारतवर्प के अन्दर शंकर,रामानुज आदि सुधारकों के समय में दर्शन की प्रवलता रही। भारतवर्ष से दर्शन और आख्यान और आलोचना को कभी रोका नहीं गया। विचार की स्वतंत्रता रही। समुदायों में शत्रुता रही परन्तु उनका प्रभाव ऊपरी रहा। इसका एक प्रमाण हम जैनियों और हिन्दुओं के सम्बन्धों में पाते हैं। एक पण्डित का कथन है कि यदि मार्ग में पागल हाथी आता हो और तुम्हारे प्राण का भय हो और यदि पास ही जैनियों का मन्दिर हो और वहाँ

जाकर तुम्हारी जान बच सकती हो तो उत्तम यह है कि तुम हाथी से कुचल जाना अच्छा समझो परन्तु जैनियों के मन्दिर में प्राण की रक्षा के लिए न जाओ। यह घृणा व द्वेष की पराकाष्ठा थी। परन्तु उस समय भी जैनियों के मन्दिर थे जहाँ जैन लोग स्वतन्त्रता से जा सकते थे। परन्तु यह बात पाश्चात्य पैगम्बरों में नहीं देखी जाती। यहूदी भारत में रह सकते हैं, अपने मंदिर भी बना सकते हैं परन्तु मक्का-मदीना या रोम में यहूदियों के लिए कोई स्थान नहीं है। सैकड़ों वर्षों की खानाबदोशी और अनेक प्रकार के अत्याचार सहन करने के पश्चात् अब बीसवीं शताब्दी के पश्चिमी राजनीतिक विचारों में परिवर्तन उत्पन्न हुआ है और इसराईल का एक नवीन देश स्थापित किया गया है। वह भी धार्मिक स्वतन्त्र विचारों का द्योतक नहीं है वरन् वैज्ञानिक उन्नति से प्रभावित है।

हजरत मुहम्मद साहब ने सुधार किया परन्तु सुधार का आधार केवल राजनीतिक तथा ऊपरी है। मुसलमानों का दावा तो बढ़ा-चढ़ा है, मुहम्मद साहब समस्त नबियों में श्रेष्ठ हैं, (अशरफुल अम्बिया) हैं, खातिमुल् अंबिया भी हैं अर्थात् वह आखिरी पैगम्बर हैं। उनके पश्चात् कोई और न होगा। उन्होंने धर्म (दीन) को पूर्ण किया है और ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया कि उससे अधिक उन्नति करना असम्भव है। परन्तु यह एक प्रतिज्ञा है। प्रमाण रहित है। वह कोई वस्तु पूर्ण न कर सके। प्रमाण के लिए सबसे बड़ा दावा है मूर्तियों के शत्रुत्व का मूर्तिपूजा का नहीं। वह मूर्तियों को तोड़ता है परन्तु मूर्ति-पूजा को हृदय से निकालने का प्रयत्न नहीं करता। इसका कारण यह था कि अरब में मोहम्मद साहब के समय में ईश्वर का ध्यान करने की वह विधि नहीं थी जो योग दर्शन में बताई गई है। इसलिए यद्यपि

सामने से मूर्ति हटा दी गई परन्तु सिज्दा की विधि वही है जो मूर्तियों के मन्दिरों में प्रचलित थी। किसी कवि का एक पद है—

शेख ने मस्जिद बना,

मिस्मार बुतखाना किया।

वह इसका दूसरा पद सोच रहे थे, उनके एक शिष्य थे हिन्दू। उन्होंने तत्काल दूसरा पद पूरा कर दिया।

'पहले तो सूरत भी थी,

अब साफ वीराना किया।।

मूर्ति के तोड़ देने से मूर्तिपूजा तो नहीं समाप्त हो सकती। सोमनाथ का मन्दिर तोड़ा तथा उसकी मूर्ति को तोड़कर हीरे-जवाहरात लूट लिए गए परन्तु क्या मूर्तिपूजा समाप्त हो गई ? एक दूसरा पत्थर उसके स्थान पर आ गया। इसको मैं अधूरा और अपूर्ण सुधार कहता हूँ। सुधार की इच्छा है विधि का ज्ञान नहीं। क्योंकि कभी यह विचार नहीं किया गया कि आखिर मूर्ख तथा अज्ञान लोग मूर्ति-पूजा क्यों करते हैं ? और जो लोग बिना विचारे हुए हज करने जाते हैं और काले पत्थर के समक्ष शीश नवाते हैं और उसे चूमते हैं वह ऐसा क्यों करते हैं।

हमने महाभारत के पश्चात् हिन्दुस्तान तथा दूसरे देशों में जो सुधार हुए उनकी ओर संक्षिप्त रूप में केवल संकेत किया है। उसकी व्याख्या तो उन देशों की धार्मिक तथा सामाजिक इतिहास से ही ज्ञात हो सकती है। ये सुधार तो निरन्तर होते रहे। क्यों होते रहे ? आखिर रोग के लिए औषधि की आवश्यकता है। सुधारक भी निरन्तर होते रहें परन्तु ये सुधार आंशिक तथा ऊपरी था। जो सुधार का मूल तथा ध्येय है उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जा सका।

10. स्वामी दयानन्द का आगमन

19वीं शताब्दी में जब सायंस (विज्ञान) का प्राबल्य हुआ और जब जीवन के अन्य विभागों के साथ-साथ धार्मिक मूलतत्वों की खोज होने लगी और सांस्कृतिक नियमों तथा मानवी प्रवृत्तियों के वर्गीकरण तथा व्यक्तीकरण की विवेचना प्रारम्भ हुई तो पुरांनी परिभाषाओं से काम नहीं चला और धर्म की जड़ें हिलने लगीं। पीर, पैगम्बर, सन्त, अवतार, ईश्वर-वचन तथा धर्म-शास्त्र सभी की आलोचना होने लगी। किसी ने कहा कि ईश्वर एक काल्पनिक सत्ता है। कोई परमात्मा या आत्म संज्ञा ऐसी नहीं जिसकी आराधना में समय नष्ट किया जाए। किसी ने कहा कि धर्म या मजहब एक अफीम है जो मनुष्य को पागल बना देती है। किसी ने कहा कि धर्म समस्त झगड़ों की जड़ है और यदि मानवीय नैतिकता से ईश्वर की भावना को पृथक् कर दिया जाए तो संसार का कूड़ा-करकट दूर जो जाए और संसार निष्कंटक हो जाए। आरम्भ में यह विचार बड़े चित्ताकर्षक लगते थे। परन्तु पिछले 100 वर्षों में मानव जाति को इसके भी पर्याप्त अनुभव हो चुके हैं। कार्लमार्क्स के स्वप्नों में पर्याप्त उथल-पुथल हो चुकी है। स्वयं कम्यूनिस्ट देशों को भी यह सन्देह है कि क्या वह कभी संसार में ऐसा परिवर्तन कर सकेंगे जो मानव जाति के लिए सुखप्रद सिद्ध हो। विज्ञान के अन्वेषण भी बहुत कुछ हो चुके हैं और अभी हो रहे हैं, विज्ञान के लिए पृथ्वी के तल

पर, पृथ्वी के नीचे और पृथ्वी के ऊपर विस्तृत क्षेत्र है। हम उन पर लोगों तक पहुँचने के प्रयास में हैं जिनकी ओर पिछली पीढ़ियों का कुछ भी ध्यान न था। जिस प्रकार सायंस ने आजकल धरातल के सभी प्रदेशों को संबद्ध कर दिया है उसी प्रकार सूर्य लो:क, चन्द्र लोक आदि लोकलोकांतर भी एक-दूसरे से समन्वित हो जाएँगे। परन्तु मानव जाति को शान्ति प्राप्त होगी या नहीं। यह एक प्रश्न है।

भले ही माह से मिरीख तक
बना लो सड़क।
जमीं पै रास्ता रहने दो
आने जाने का।।

चाहे चन्द्र लोक से मंगल तारे तक सड़क बना लो। परन्तु भूमि पर तो चलने के लिए अव्यवहित मार्ग छोड़ दो।

1824 ई॰ में गुजरात (काठियावाड़) में एक बालक का जन्म हुआ जो संसार की धार्मिक तथा व्यवहारिक बुराइयों का संशोधक था। महाभारत को पाँच हजार वर्ष व्यतीत हो चुके थे। और अर्जुन ने श्रीकृष्ण से गीता में जिन शंकाओं का वर्णन किया है वे सभी लोग एक-एक करके न केवल भारतवर्ष वरन् समस्त मानव जाति को कष्ट पहुँचाते रहे और यद्यपि इन लोगों के चिकित्सक भी उत्पन्न हुए और उन्होंने उपचार भी किया तथापि—

'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दबा की।'

महाभारत के युद्ध का क्या परिणाम होगा इसका वर्णन अर्जुन ने इन शब्दों में किया है—

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्मः सनातनाः।

धर्मे नष्टे कुलं कुत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।
अधर्मभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।
संकरो नरकायैव कुलधनानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया।।
दोषैरेतैः कुलघनानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वता।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।

श्रीमद्भागवत गीता अ॰ 1। 39-44

'हे श्रीकृष्ण, इस गृह-युद्ध में हमको तो नाश ही नाश दिखाई पड़ रहा है। क्या हमारा कर्तव्य नहीं है कि इस कुल घातक रोग का इलाज करें। कुल के नाश से सनातन धर्म का लोप हो जाता है। पाप बढ़ जाता है। अधर्म के अभ्युत्थान से कुल की देवियाँ अपने धर्म को भूल जाती हैं। उनके सतीत्व को आघात पहुँचता है। सतीत्व नष्ट होने पर वर्ण-संकर सन्तान उत्पन्न होती है और ऐसी अयोग्य सन्तान कुल का नाश करके समस्त कुल वालों के लिए नरक का हेतु हो जाती है। उनके पूर्वजों के आदर्श लुप्त हो जाते हैं और उनकी समस्त आशाओं पर पानी फिर जाता है। इन कुल घातक और दुष्ट सन्तानों के पापों के कारण देश और जाति की वे विशेषताएँ भी लुप्त हो जाती हैं जिन पर उनको अति प्राचीन काल से अभिमान रहा है। हे श्रीकृष्ण, हमने आपके पूर्वजों से सुना है कि कुल धर्म के नष्ट करने वालों के भाग्य में नरक ही है। देखो तो सही कि हम कितना बढ़ा पाप करने जा रहे हैं। केवल राज के लिए अपने

ही भाइयों का रक्तपात करने के लिए उद्यत हैं। इससे तो यही अच्छा है कि सशस्त्र कौरव मुझे मार डालें और मैं हाथ-पैर न हिलाऊँ।'

गीता का पहला अध्याय इस चेतावनी से समाप्त होता है। इसको आप चेतावनी कहिए, भविष्यवाणी कहिए या परामर्श कहिए। परन्तु इसके भीतर जो एक ध्रुव सत्य निहित है उसका कोई तिरस्कार नहीं कर सकता। सदा ऐसा ही होता आया है और ऐसा ही होगा।

अर्जुन की आवाज नहीं सुनी गई। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की इस शंका का समाधान नहीं किया। किसी प्रकार अर्जुन पर दबाव डालकर उसको चुप कर दिया गया। परन्तु हम देखते हैं कि अर्जुन की यह भविष्यवाणी अक्षरशः ठीक निकली। कुल नष्ट हुआ। कुल धर्म नष्ट हुआ। जो आग का भभूखा पाँच हजार वर्ष भड़का वह किसी न किसी रूप में भड़कता ही रहा। धर्म गया। धर्म शास्त्र गए। अच्छी प्रथाएँ गईं। उत्कृष्ट आदर्श गए। न शुभ विचार रहे, न शुभ आचार। एक ऐसा हस्पताल बन गया जिसमें केवल रोगी ही रोगी थे। न चिकित्सक थे न चिकित्सा के साधन। यदि थे भी तो 'नीम हकीम खतरे जान' अर्थात् अयोग्य चिकित्सक ! हस्पताल क्या थे बूचड़खाने थे।

स्वामी दयानन्द जिनका जन्म का नाम मूलशंकर बताया जाता है जब बड़े हुए तो उनके समक्ष समस्त शोचनीय परिस्थिति का चित्र आ गया। बुद्धिमानों के लिए एक संकेत भी पर्याप्त होता है और मूर्खों के लिए तो–

मूरख हृदय न चेत,
जो गुरु मिलै विरंचि सम।

चूहे की कहानी जो स्वामी दयानन्द की आन्तरिक हलचल का

आरम्भ समझी जाती है इतनी प्रसिद्ध हो चुकी है कि उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं, वह बुद्धिमान मूलशंकर के लिए एक संकेत मात्र थी। इस छोटी-सी बात पर सुधार का एक विशाल भवन खड़ा किया गया। उसी भवन का नाम आर्य समाज है।

ऋग्वेद का एक मन्त्र है–

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

विद्वान् लोगों की दृष्टि सदा ईश्वर के परम पद पर रहती है।

इस नियम के अनुसार जब मूलशंकर को कहा गया कि आज तुमको शिवजी के दर्शन होंगे तो उनके भक्ति-भाव के उत्थान के लिए एक अवसर मिल गया, और वह उस शुभ अवसर की प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से करने लगे। परन्तु जब शिव के मदिर में शिवजी की मूर्ति पर एक तुच्छ चूहे की उद्दण्डता का दृश्य सामने आया तो उनकी आँखें खुल गईं। यह क्या है ? क्या यही विष्णु का परम पद है ? जिसके लिए सूरि वर्ग उत्कण्ठित रहते हैं। नहीं ऐसा नहीं हो सकता। यह भ्रम है। एक तुच्छ पत्थर। सर्वज्ञ ईश्वर का स्थानापन्न नहीं हो सकता।

परन्तु अर्जुन के कथनानुसार कुल धर्म तो नष्ट हो चुके थे, अधर्म ने धर्म को दबा लिया था। 'जितने कंकर' उसने 'शंकर'।

स्वामी दयानन्द के हृदय में जोश पैदा हो गया। वह सोचने लगे कि इस रोग का मूल कारण क्या है ? अधूरे वैद्य के समान उन्होंने जल्दी से इलाज करना आरम्भ नहीं कर दिया। परन्तु मूल कारण के खोजने में उन्होंने विलम्ब नहीं किया। उनके प्रवास का आरम्भ उसी रात को उसी घड़ी होता है जब वह चूहे को मूर्ति के चढ़ावे को खाते देखते हैं। पिता जी को जगाना और उस चूहे की उदण्डता

की सूचना उनको देना, यह उनकी कोशिश थी। यह एक छोटी-सी कंकड़ी थी जो मूलशंकर के हृदय रूपी तालाब में फेंक दी गई थी और जिसके गिरते ही समस्त तालाब में उथल-पुथल उत्पन्न कर दी।

स्वामी दयानन्द अर्थात् बालक मूलशंकर ने एक बात में देर नहीं की और एक बात में जल्दी नहीं की। औषध खोजने में एक क्षण भी नष्ट नहीं किया और रोग के कारण को जानने में जीवन भर लगा दिया।

बड़े काम करने के लिए बड़ी तैयारियों की आवश्यकता होती है। 14 वर्ष की आयु से लेकर 51 वर्ष की आयु तक लगातार 37 वर्ष तक वह निरन्तर प्रयत्नशली रहे। जब दूसरों के उपदेश और स्वयं बहुत विचार करने के पश्चात् उनको पता चला कि यदि संसार को सुधार की आवश्यकता है तो इस आवश्यकता को आर्यसमाज ही पूरा कर सकता है तो 1875 ई॰ में अर्थात् 51 वर्ष की आयु में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना हुई।

स्वामी दयानन्द ने ईश्वर का अवतार होने का दावा नहीं किया। यदि करते तो भारतवर्ष उनका स्वागत करता। जब अज्ञान बढ़ जाता है तो इस प्रकार के चमत्कार लोगों को विशेष प्रकार से आकर्षित करते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द जी देख चुके थे कि ईश्वर का अवतार तो होता नहीं, हाँ चालाक लोग स्वयं अवतार होने या दूसरे को अवतार प्रसिद्ध करने का धोखा दे सकते हैं। इससे अज्ञान मिटता नहीं बढ़ जाता है। उन्होंने पैगम्बर होने का भी दावा नहीं किया। यदि करते तो अवश्य सफल हो जाते। क्योंकि चमत्कार दिखाकर लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेना तो चालाक लोगों का साधारण-सा काम है परन्तु महर्षि स्वामी दयानन्द को अस्थायी चिकित्सा में कोई लाभ

नहीं दिखाई पड़ता था। चिकित्सा ऐसी होनी चाहिए जो रोग को हरण करने वाली हो, रोगी को मार डालने वाली न हो।

स्वामी दयानन्द इसी प्रयत्न में लगे रहे। उन्होंने पिछले पाँच हजार बर्षों के सुधारों और सुधारकों का विचारपूर्वक अध्ययन किया। उनकी सफलता तथा असफलता की जाँच-पड़ताल की, उनकी बुद्धिमत्ता पर विचार किया तथा उनकी त्रुटियों को पीछे नहीं डाल दिया, उन्होंने इस सिद्धांत का अनुकरण किया कि–

राह रास्त बर वा गरचि दूरस्त।

(मार्ग ठीक हो, चाहे लम्बा हो)

उन्होंने पगडण्डी पर चलने की जल्दी नहीं की। यदि उनको किसी ने अच्छी अनुमति दी तो उन्होंने उसे धन्यवाद के साथ अपनाया। यदि उस अनुमति में कोई दोष प्रतीत हुआ तो विष मिले हुए भोजन की भाँति तुरन्त छोड़ दिया। न स्वयं ही छोड़ा वरन् गलती करने वालों को भी सावधान किया, इसलिए जहाँ उनके अनुयायी तथा सम्मान करने वालों की संख्या बढ़ी वहाँ शत्रु भी बहुत हो गए। परन्तु उन्होंने कदापि इसकी कोई परवाह नहीं की।

स्वामी दयानन्द के सुधार के पीछे पाँच हजार वर्ष का पीढ़ी दर पीढ़ी का अनुभव है। उनकी आह में भारत माता के पाँच हजार वर्ष के कराहने की वेदना है। □

11. रोग का निदान

स्वामी दयानन्द की सबसे बड़ी खोज यह थी कि वेद ईश्वर की वाणी है। उस काल में पवित्र पुस्तकों की भरमार थी। शास्त्रों के दावेदार बहुत थे। मुसलमान कुर्आन को ईश्वरीय पुस्तक कहते थे। ईसाई बाइबिल को, यहूदी पुरातन अहद्नामे को। पारसियों की पुस्तकें भिन्न थीं। प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय का शास्त्र भिन्न था। गुरुओं की वाणियाँ अलग थीं। कई एक का दावा था कि हमारा शास्त्र सबसे नवीन है। किसी का दावा था कि हमारे शास्त्र में मुक्ति प्राप्त करने के लिए बहुत तप तथा परिश्रम की आवश्यकता है। कुछ का दावा था कि हमने ईश्वरीय धर्म को बहुत सरल बना दिया है जिससे प्रत्येक मनुष्य उससे लाभ उठा सके।

स्वामी दयानन्द ने पता चलाया कि जितने पुराने शास्त्र हैं उनमें अधिक से अधिक भाग वेदों से लिया गया है। वृक्ष की शाखाएँ भिन्न हैं। पत्ते भिन्न हैं, पुष्प भिन्न हैं और फल भिन्न हैं। परन्तु इन सब भिन्नताओं के होते हुए भी एक समानता यह है कि इन सब फूलों, फलों, डालियों और पत्तें को जीवन देने वाला रस तो जड़ से ही आता है। इसलिए जड़ को पकड़ना चाहिए। वह जड़ वेद है।

भारतवर्ष के वातावरण में वेद का महत्व पाया जाता है। वेदों का स्वाध्याय बन्द था परन्तु वेदों की छाप थी। कुछ शाखाएँ जिन्होंने

अपने नए शास्त्र गढ़ लिए थे वेदों के नाम के सामने अपना सिर नवाया करते थे। उनका विचार था कि वेदान्त उच्चकोटि की वस्तु है, जिसको साधारण लोग पढ़ने के योग्य नहीं। बौद्ध धर्म वेद को छोड़ चुका था परन्तु बौद्ध शिक्षा पर वेदों का प्रभाव था। अधिकांश विद्वानों का विचार है कि बौद्ध धर्म-शास्त्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए वेदों और संस्कृत पुस्तकों के अध्ययन की परम आवश्यकता है। पारसियों की पुस्तक वेदों से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। आगे चलकर जो परिवर्तन होते रहे उनमें भी वेदों का पुराना अभाव मिला हुआ ज्ञात होता है।

वेदों की पुरातनता तो लगभग संसार भर के विद्वानों ने स्वीकार की है, परन्तु जो लोग अपनी नई पुस्तकों को महत्ता देने के लिए वेदों को नहीं मानते हैं उनका सबसे बड़ा दावा यह है कि वेद पुराने तो हैं परन्तु इस वर्तमान काल के लिए लाभदायक नहीं है। जब दुनिया नई थी और दुनिया का बालपन था तब मानवी आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ भी प्रारम्भिक अवस्था में थीं। अस्तु वेद की शिक्षा को ही पूरा समझ लिया गया था। परन्तु बूढ़ी नानी आपको जीवन की नवीन समस्याओं के सुलझाने में सहायता नहीं दे सकती और न पथ-प्रदर्शन कर सकती है।

स्वामी दयानन्द ने इस युक्ति की गहराई और विस्तार दोनों पर विचार किया और वेदों की शिक्षा की उन नवीन शिक्षा से तुलना की तो उन्हें ज्ञात हुआ कि हर वस्तु केवल पुरानी और प्राचीन होने से बेकार तथा खराब नहीं हो जाती वरन् प्रकृति के करशमे तो उसके बिल्कुल विरुद्ध शिक्षा देते हैं। ईश्वर ने सूर्य को बनाया है, यह सबसे प्राचीन दीपक है परन्तु प्राचीनतम होते हुए भी वह उत्तम है। जितने

दिये अब तक बन रहे हैं वह सूर्य के एक अंश की भी समता नहीं कर सकते। आजकल विज्ञान काल में यथाशक्ति प्रयत्न हो रहा है कि अपनी आवश्यकता के लिए अपने दिये बनाएँ और सूर्य के आधीन न रहें परन्तु सूर्य सबसे प्राचीन पुरातन होते हुए भी नवीन है। किसी दिये में गरमी है, प्रकाश नहीं। किसी में प्रकाश है, तो गरमी नहीं। किसी में गरमी और प्रकाश तो है परन्तु दूसरी वस्तुओं को अपनी शक्ति से विकसित करने की शक्ति नहीं। यह बात वेद पर भी ठीक उतरती है। आज तक किसी नये शास्त्र ने कोई ऐसी बात नहीं बताई जो वेद में न हो, केवल उस अंश को छोड़कर जो इस शास्त्र का प्रभाव स्थापित रखने के लिए संकीर्ण हृदय के कारण सम्मिलित कर ली गई है। जैसे कुर्आन के धार्मिक सिद्धांत लगभग वही हैं जो इंजील के। वही बाबा आदम, वही जिबरईल, वही स्वर्ग, वही नर्क। कुर्आन में नई बात केवल इतनी है कि ईसा के स्थान पर मुहम्मद साहब रसूल हैं। भिन्नता रसूल के व्यक्तित्व में है धार्मिक सिद्धांत में नहीं। हजरत मुहम्मद साहब रसूल हों या हजरत ईसा या दोनों, जब तक ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध में कोई विशेष बात बताई नहीं जाती। उस समय तक संसार की प्राचीनता या नवीनता से कुछ भेद नहीं उत्पन्न होता और फिर प्राचीन बात को क्यों छोड़ा जाए जब तक उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता।

स्वामी दयानन्द जी ने बाल्यकाल में यजुर्वेद पढ़ा था। यजुर्वेद को कण्ठ करने की उनके कुटुम्ब में प्रथा चली आती थी। वेदों को समझने या समझाने की प्रथा न थी। वेद एक पवित्र पुस्तक अवश्य थी। भारतवर्ष में जो पुस्तकें पवित्र समझी जाती थीं जैसे गीता, महाभारत, रामायण, पुराण आदि उन सब में वेदों का नाम सम्मानपूर्वक

लिया गया है। उपनिषदों और दर्शनों में तो वेदों की महिमा का विशेष वर्णन किया गया है। इन सबका स्वामी दयानन्द पर प्रभाव पड़ा होगा। इसलिए स्वामी दयानन्द ने निश्चय कर लिया कि जड़ को पानी देने से सारे वृक्ष की सिंचाई हो जाती है और मूल के सूखने से सारा वृक्ष सूख जाता है, इसलिए क्यों न जड़ को ही सींचने का प्रयत्न किया जाए। मनुस्मृति में लिखा भी है कि जो ब्राह्मण अपने जीवन की सारी शक्ति वेद पर व्यय नहीं करता वह अपने जीवन को व्यर्थ करता है। इसलिए उन्होंने सम्पूर्ण जीवन वेदों के अध्ययन में लगा दिया।

स्वामी दयानन्द का परिश्रम व्यर्थ नहीं गया। स्वामी दयानन्द ने स्वयं एक स्थान पर लिखा है कि वेदों पर परिश्रम करना ऐसा है जैसे गहरे समुद्र में डुबकी लगाकर मूल्यवान रत्न प्राप्त करना और वेदों से बाहर दूसरी पुस्तकों के अध्ययन में लगे रहना ऐसा है जैसे समुद्र के तट पर पूरी आयु फिरना और सिवाय बेकार घोंघों के कुछ प्राप्त न कर सकना।

स्वामी दयानन्द ने महाभारत के पश्चात् के सुधारकों के परिश्रमों की जाँच-पड़ताल की और देखा कि उनकी असफलता या आंशिक सफलता का कारण क्या हुआ।

महात्मा बुद्ध की सामाजिक शिक्षा अद्वितीय थी और वह आज भी संसार का पथ-प्रदर्शन कर सकती है। 'धम्म पद' में यह प्रश्न उठाया गया है कि असली ब्राह्मण कौन है ? जो उत्तर दिए गए हैं वह पूर्ण रूप से, वेदों से समानता रखते हैं। यदि महात्मा बुद्ध वेद मंत्रों से लोगों को यह बताते तो पंडितों को उसे न मानने का कोई स्थान न मिलता और वे उनको नास्तिक न कहते। परन्तु उन्होंने

एक नवीन धर्म की स्थापना की और धर्म के प्राचीन आधार को उथल-पुथल करने का प्रयत्न किया। लोग ईश्वर के स्थान पर बुद्ध को पूजने के लिए प्रस्तुत न थे।

राजा राम मोहनराय और स्वामी दयानन्द के कार्य करने की विधियों में सबसे बड़ा भेद यही है कि जब राजा राम मोहनराय केवल कुछ उपनिषदों तक ही अपने आपको सीमित कर लेते हैं और नैतिक सुधार का आधार वेद पर नहीं रख सकते तो स्वामी दयानन्द वेद को विशेषता देते हैं। वह कहते हैं कि मूर्ति-पूजा इसलिए छोड़ देनी चाहिए कि वेद में इसकी आज्ञा नहीं। 'सती' प्रथा इसलिए निन्दनीय है कि वेद इसकी आज्ञा नहीं देता, स्वामी दयानन्द सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक या आत्मिक सुधार का आधार वेद पर रखते हैं और दूसरे धर्मों का मुँह नहीं देखते।

राजा राम मोहनराय को सती-प्रथा तोड़ने के लिए ईसाई पादरियों की सहायता न मिलती तो उनकी मनोकामना पूर्ण न होती। इसका परिणाम यह हुआ कि 'ब्रह्म समाज' ईसाई रंग में रंजित समझा जाने लगा। बाबू केशवचन्द्र सेन जी के एक व्याख्यान ने जो उन्होंने हजरत ईसा के सम्बन्ध में कलकत्ता में दिया था यह सिद्ध कर दिया कि ब्रह्म समाज पर ईसाइयत का प्रबल प्रभाव है।

उन्होंने मार्च 1866 ई॰ में कलकत्ता मैडिकल-कॉलेज थिएटर में "ईसा मसीह, यूरोप और एशिया (Jesus Christ, Europe and Asia) विषय पर एक प्रभावशाली व्याख्यान दे डाला। इसके कुछ वाक्य उद्धरण करना अत्यावश्यक है–

(1) Christ's influence, but small rivulet at first, increased in depth and breadth as it rolled along, and swept away in its irresistible tide the impregnable strong

holds of error and superstition, and the accumulated corruptions of centuries.

"ईसा मसीह का प्रभाव आरम्भ में एक छोटा-सा नाला था जो आगे चलकर अधिक चौड़ा और गहरा होता गया और तीव्र बहाव के साथ असत्यता और मिथ्या-विचारों के दुर्जेय किलों तथा शताब्दियों से इकट्ठे हुए कूड़े-करकट को बहा ले गया।"

(2) "Sent by providence to reform and regenerate mankind he received from providence power and wisdom for that great work."

"ईश्वर ने उसको मनुष्य जाति के सुधार और पुनर्जीवित करने के लिए भेजा था इसलिए ईश्वर ने उसको शक्ति और बुद्धि भी प्रदान की थी।"

(3) "His tenderness and humility, lamb-like meakness and sympathy, his heart full of mercy and forgiving kindness."

"उसकी कोमलता और नम्रता, मैमने के समान दीनता और सहानुभूति, उसकी दया और क्षमा से परिपूर्ण हृदय।"

(4) "His firm, resolute, unyielding adherence to truth."

"उसकी सच्चाई के प्रति दृढ़, अटल, और निश्चल लग्न।"

(5) "Verily, gesus was above ordinary humanity."

"सचमुच ईसा मसीह साधारण मनुष्य-जाति से उच्च था।"

(6) "Was not Jesus an Asiatic ? I rejoice, yea, I am proud in that I am an Asiatic. In fact Christianity was founded & developed by Asiatics in Asia. When I reflect on this, my love for Jesus, becomes a hundred-

fold intensified. I feel him nearer my heart, and deeper in my national sympathies."

"क्या ईसा मसीह एशिया का नहीं था ? मुझे हर्ष है, नहीं-नहीं, अभिमान है कि मैं एशिया का हूँ। वस्तुतः ईसाई धर्म को एशिया वालों ने एशिया में स्थापित और उन्नत किया ! जब मैं यह विचार करता हूँ तो ईसा मसीह के लिए मेरा प्रेम सौ गुना हो जाता है। मैं उसको अपने हृदय के अधिक निकट और अपने जातीय प्रेम की गहराई में अनुभव करता हूँ।"*

इसके विरुद्ध स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में किसी ने यह विचार नहीं किया कि वह इस्लाम या ईयाइयत से प्रभावित हैं। यद्यपि कुछ लोगों ने स्वार्थवश जनता में यह भावना जागृत कर दी कि स्वामी जी गुप्त रूप से ईसाई प्रचारक हैं। परन्तु जब स्वामी दयानन्द के साथ सनातनधर्मी पंडितों के शास्त्रार्थ हुए और केवल वेदों को ही प्रमाण माना गया तो लोगों को यह विचारधारा छोड़नी पड़ी।

आजकल तो कट्टर से कट्टर आर्यसमाज का शत्रु यह कहने के लिए प्रस्तुत नहीं है कि आर्यसमाज पर मुसलमानों या ईसाइयों का प्रभाव है वरन् इसके विरुद्ध समस्त हिन्दुओं की यह धारणा है कि स्वामी दयानन्द कुछ भी क्यों न हों और आर्यसमाज की शिक्षा कुछ भी क्यों न हो इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक सभ्यता और हिन्दू धर्म को ईसाई और मुसलमानी धर्म के प्रभाव से सुरक्षित रखने के लिए आर्यसमाज एक अमृत का काम करता है। □

---

*राजा राम मोहनराय, केशवचन्द्र सेन और दयानन्द, पृष्ठ 47।

12. स्वामी दयानन्द ने मूल को सींचा

एक मुसलमान मित्र का कथन है कि जब वैदिक धर्म के पुराने स्वरूप में बहुत परिवर्तन हो गया तो स्वामी दयानन्द या आर्यसमाज इस जर्जरित पुस्तक का अनुकरण क्यों कर रहा है ? वह इस्लाम जैसे नवीन धर्म को क्यों नहीं ग्रहण कर लेता। मान लो कि वैदिक धर्म बहुत सुन्दर था परन्तु कई शताब्दियों पूर्व न कि आज। इतने समय में उसमें इतने परिवर्तन और विकार उत्पन्न हो गए कि सड़े हुए खाने की भाँति वह विश्वास के योग्य नहीं। यह शंका बहुधा लोगों में होती है। बहुधा लोग कहा करते हैं कि हमको भूत की ओर मुख नहीं करना चाहिए। जो बीत गया सो बीत गया। हमारी दृष्टि भविष्य पर होनी चाहिए। उन्नति रूपी घड़ी की सुई को पीछे कर देना भूल है।

इस युक्ति का ऊपरी मूल्य कुछ भी हो इसका आधार वास्तविकता पर नहीं। जिसको नवीन कहा जाता है वह नवीन नहीं वरन् बहुत पुरानी है। मुसलमान लोग कहते हैं कि वेदों में परिवर्तन हुए हैं और कुर्आन शरीफ ज्यों का त्यों है। यदि इस बात को मान भी लिया जाए कि कुर्आन शरीफ में कम परवर्तन हुए पर कुर्आन शरीफ के लिए काल भी तो बहुत अधिक नहीं हुआ। 'कै आदमी कै पीर शुदी' चौदह सौ वर्षों की तुलना लाखों सालों से कैसे हो

सकती है ? फिर भी सत्य यह है कि वैदिक धर्म में विभिन्न काल तथा विभिन्न देशों में जो त्रुटियाँ उत्पन्न होती गईं उनका अन्तिम रूप कुर्आन शरीफ या इसलामी सिद्धान्त हैं। इस्लाम और कुर्आन इनजील का कुछ परिवर्तित रूप है। इनजील जबूर की, जबूर तौरेत की, तौरेत जिनदावस्था की और जिनदावस्था वैदिक धर्म की। इस अवस्था से चलकर कुर्आन की अवस्था पहुँचते-पहुँचते प्राचीनता बढ़ जाती है घटती नहीं। हाँ केवल इतना अन्तर अवश्य हो जाता है कि वही रोटी पुरानी होने पर प्रतिदिन एक नवीन संज्ञा से प्रसिद्ध कर दी जाती है। नाम परिवर्तन करने से रोटी की दशा में कुछ नवीनता तो उत्पन्न नहीं होती।

कुछ लोगों का विचार है कि संस्कृत साहित्य ने ईरानी, यूनानी, लातीनी भाषाओं और देशों पर तो प्रभाव डाला परन्तु अरबिस्तान पर उसका कोई प्रभाव नहीं पहुँचा अस्तु अरब वाले हिन्दुस्तान के ऋणी क्यों हों ? पर यह विचारधारा न वास्तविक तथ्य है और न इसका प्रबल आधार है। थोड़े से अध्ययन से पता चल जाता है कि अरब की संस्कृति पर वैदिक संस्कृति का प्रभाव है। जब मुसलमान लोग मानते हैं कि संसार के सारे मनुष्य बिना किसी मतभेद के हजरत आदम और अजरत हौवा की सन्तान हैं तो हिन्दुस्तान वाले और अरबिस्तान वाले किसी समय में एक रहे होंगे। तो यह कैस सम्भव है कि एक संस्कृति का दूसरी पर प्रभाव न पड़ा हो। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में संस्कृति की बाह्य रूपरेखा परिवर्तित हो गई हो और बाद की संस्कृति ने एक अपना भिन्न रूप बना लिया हो। वे कृतज्ञ या आभारी हों या न हों यह दूसरी बात है। आर्यसमाज के पंडित तो आरम्भ से ही यह कहते आए हैं कि समस्त भाषाएँ और

समस्त धर्म वेदों और वैदिक भाषा के परिवर्तन हैं।

यह बात स्पष्ट हो जाएगी यदि हम उन सिद्धान्तों का अध्ययन करें जिनके आधार पर धर्मों या भाषाओं में परिवर्तन हुआ करता है।

जब हम एक देश से दूसरे देश में जाते हैं अपने कुछ पुराने शब्द साथ ले जाते हैं। शब्दों या भाषा के दो भाग होते हैं। शब्द और उसका अर्थ। कभी-कभी शब्दों में कुछ परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अर्थ वही रहता है जैसे संस्कृत का 'माता' शब्द ईरान में 'मादर' और अँग्रेजी में 'मदर' बन गया, अर्थ वही है। यहाँ पर सम्भवतः यह प्रश्न उठे कि 'माता' का बिगड़कर 'मादर' हुआ या मादर का बिगड़ा हुआ रूप 'माता' है। तो ईरान वाले प्रधान हुए और भारतवर्ष वाले पीछे। भारतीयों को ईरान का ऋणी होना चाहिए परन्तु यह बात तो थोड़े विचार करने से स्पष्ट हो जाती है, माता चलकर 'मादर' तक पारभापिक शब्द बदला है। घात्वर्थ तो भारतवर्ष में ही रह गया और वह बाहर की भाषाओं तक गया ही नहीं। 'माता' एक संस्कृत का शब्द है जिसका मूल है धातु 'मा' जिसका अर्थ है जन्म। फारसी में कोई धातु ऐसा नहीं जिससे फारसी शब्द 'मादर' बन सके। इसलिए ज्ञात होता है कि शब्द 'मादर' ईरान में जाने से पूर्व संस्कृत शब्द 'माता' था।

एक और शब्द लीजिए। अरबी चिकित्सक और डॉक्टर एक शब्द प्रयोग करते हैं 'इतरीफल'। यह एक औषधि का नाम है। यह इतरीफल शब्द संस्कृत 'त्रिफला' का बिगड़ा हुआ रूप है, अरब वालों ने उसे अरबी कर लिया है। केवल उच्चारण में समानता है अर्थ में नहीं। संस्कृत में त्रिफला इसलिए कहते हैं कि इसमें तीन फल होते हैं हड़, बहेड़ा और आँवला। शब्द अपने रूप अपने रूट से अलग

नहीं हुआ। अरब वालों ने इसे अरबी तो कर लिया परन्तु केवल उच्चारण को, न कि रूट अथवा अर्थ को। कोई यह नहीं कह सकता कि अरबी के शब्द इतरीफल से संस्कृत का शब्द 'त्रिफला' निकला है।

अब हम अरवी के एक ऐसे शब्द को लेते हैं जिसका रूप इतना परिवर्तन हो गया है कि उसका धातु तक पहचान में नहीं आता है। आपने शायद सुना होगा और आपको पता होगा कि अरबी में 'जमल' ऊँट के लिए आता है। प्रश्न यह है कि क्या यह शब्द 'जमल' अरब में उत्पन्न हुआ था ? यदि अरब में उत्पन्न होता तो उसके कुछ चिह्न होते। इसका सम्बन्ध किसी धातु से होता और उसके पीछे कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ होतीं, परन्तु ऐसा नहीं है। थोड़ा पता लगाइए और संस्कृत शब्द से सहायता लीजिए। संस्कृत में ऊँट का नाम 'क्रमेल' है। क्रमेल का शब्द 'क्रम धातु' से निकला है। 'क्रम' का अर्थ है 'नाप-तौलकर पग आगे रखना'। ऊँट की चाल में एक विशेष बात होती है। आप इसको प्रतिदिन देख सकते हैं। वह क्रम से अर्थात् क्रमानुसार होती है इसलिए यह बहुत उचित था कि उसका नाम क्रमेल रखा जाता। जब यह क्रमेल हिन्दुस्तान से बाहर गया तो इंगलिस्तान में जाकर यह 'कैमेल' हो गया और पश्चिम एशिया में इसका स्वरूप कैमेल से परिवर्तन होकर 'कैमेल' या गमल हो गया। अरब वालों के लिए 'गाफ' बोलना कठिन होता है, वह इसे अजमी कहते हैं और जहाँ 'ग' आता है उसे 'ज' से बदल देते हैं। इस प्रकार गमल का जमल हो जाता है। अरबी भाषा बोलने वाले समस्त देशों में बहुधा ऊँट को जमल भी कहा जाता है।

इसकी एक हास्यजनक कहानी भी है। जब शाम देश का कुछ

भाग 1833 ई॰ में टरकी वालों से मिश्र वालों ने जीत लिया तो मिश्र के लोग भी वहाँ आकर बस गए परन्तु कुछ समय पश्चात् ई॰ 1840 में वह भाग टरकी वालों के हाथ में फिर आ गया तो उस समय अरबी और मिश्री लोगों में झगड़ा हो गया। सरकार को यह जानने में बड़ी कठिनाई हुई कि कौन अ़रबी और कौन मिश्री है। उस समय यह नियम बना लिया गया कि जो 'गमल' बोले वह मिश्री और जो जमल बोले वह अरबी। अब यदि किसी मिश्री या अरबी से यह पूछा जाए कि जमल या गमल का आरम्भ कहाँ से हुआ ? तो वह यह न बता सकेंगे। क्योंकि शब्द का बाह्यरूप बाहर गया है, वृक्ष की जड़ तो भारतवर्ष में ही रह गई और वह था धातु 'क्रम'। इसी प्रकार दूसरे देशों तथा धर्मों में भी यह परिवर्तन हुए हैं। जैसे संस्कृत वाले जिसको धर्म कहते हैं उसे बुद्ध लोग 'धम्म' कहते हैं। परन्तु संस्कृत शब्द धर्म और कर्म में धातु कृ, धृ का प्रभाव समाप्त नहीं हुआ है। वह प्रभाव बुद्धधर्म में जाकर समाप्त हो गया है बाह्य अर्थ रह गया है।

इसी प्रकार यदि गहरी छानबीन करता रहे तो ज्ञात होगा कि शब्द् और उनके अर्थ दूसरे देशों, धर्मों और दूसरी जातियों में परिवर्तित होकर भी अपने मूल धातु को भारतवर्ष में ही छोड़ गए और संस्कृत भाषा साहित्य अब भी इतनी शक्ति रखता है कि यदि उससे सहायता ली जाए तो यह बहुत-सी ऐसी गुप्त विशेष बातों को स्पष्ट कर देगी जो आजकल लोगों की समझ में नहीं आ रही हैं।

इसलिए स्वामी दयानन्द ने यह पता लगाया कि वेद समस्त धार्मिक ग्रन्थों के मूल थे। उन्होंने संसार के धर्मों के साथ उपकार किया है उनको अपने मौलिक विकास का पता दिया है जहाँ से उन्होंने

जीवन को प्राप्त किया था और जहाँ से आज भी वह जीवन को प्राप्त कर सकते हैं। किसी धनवान की मेज पर रखा हुआ फूल सुन्दर तो है और वह शायद यह भी पसन्द नहीं करता कि उसका सम्बन्ध किसी गुलाब की काली तथा भोंडी जड़ के साथ स्थापित किया जाए परन्तु सत्य यह है कि इतने जीवन का रस उसी से प्राप्त किया था। और यदि उसका सम्बन्ध बिल्कुल तोड़ दिया गया तो वह फूल सूखकर नष्ट हो जाएगा और जड़ तो आखिर जड़ ही है उससे नये-नये फूल खिलेंगे, स्वामी दयानन्द ने इसलिए जड़ को खींचने का प्रयत्न किया है ताकि फल-फूल स्थिर रहें। स्वामी दयानन्द की यह विशेषता थी कि महाभारत के पश्चात् सर्वप्रथम उन्होंने वेदों की पवित्रता को पुनः स्थापित किया। □

13. अद्‌भुत चिकित्सा प्रणाली

महाभारत के पश्चात् संसार में जो धार्मिक सुधारक हुए उनमें स्वामी दयानन्द एक उच्च स्थान रखते थे। धार्मिक सुधार की कई श्रेणियाँ हैं और उनका प्रकार, उनका विज्ञापन और उनके कार्य की विधियों पर उनकी प्रसिद्धि तथा सम्मान आधारित है। जैसे चिकित्सक कई प्रकार के होते हैं उसी प्रकार धार्मिक सुधारक भी। सबसे अधिक जनता को प्रिय वह चिकित्सक या हकीम होता है जो दवा मीठी दे, औषधि प्राप्त करने में अधिक व्यय या कष्ट न हो और जो अधिक परहेज भी न बताए। यदि आप स्वभावानुसार और इच्छानुसार खाते-पीते भी रहें और होम्योपैथी की मीठी गोलियाँ दवा के रूप में खानी पड़ें तो आपको ऐसे चिकित्सक से विशेष प्रेम होगा। परन्तु यदि दवा के बनाने में कष्ट उठाना पड़े तो रोगी को असुविधा का अनुभव होता है परन्तु यदि चिकित्सक जर्राही का कार्य करे तो बहुत कम रोगी इसके लिए तैयार होते हैं। भूतकाल में भी चीरफाड़ होती थी परन्तु इसके लिए बहुत कम लोग तैयार होते थे। रोगी की मुश्कें बाँध ली जाती थीं। वह रोता-चिल्लाता हाथ-पाँव मारता था। जब से क्लोरोफार्म का आविष्कार हुआ वह धींगा मुश्ती तो बन्द हो गई परन्तु फिर भी जीवन का खतरा रहता है। और चिकित्सक भी जहाँ तक सम्भव हो ऐसी चीरफाड़ की विधियों से बचते हैं और रोगी तो कठिनाई से ही तैयार होता है।

इसी प्रकार जितने धार्मिक सुधारक हुए हैं उनमें वह सुधारक अच्छे समझे जाते हैं जो व्यक्तिगत व्यवहारों, घरेलू प्रथाओं या सामाजिक रिवाज में कोई परिवर्तन न बताते हों। यदि धार्मिक सुधारों के साथ रोटी-बेटी के सम्बन्ध में परिवर्तन न आए तो आप हृदय से कुछ भी विश्वास क्यों न रखें कोई आपका विरोधी नहीं होगा। मुसलमानों के समय में बहुत से हिन्दुओं के व्यवहार मुसलमानों के समान हो गए थे। कुछ पंडित ऐसे भी थे जो नमाज तक पढ़ने लगे परन्तु वे मुसलमानों के साथ शादी-विवाह से बचते रहे। जो लोग केवल एक पंथ से दूसरे पंथ में हो जाते हैं और उनकी घरेलू प्रथाएँ ज्यों की त्यों रहती हैं, उनका कोई विरोध भी नहीं करता। हिन्दुओं में आजकल भी एक बहुत बड़ा समूह उच्चकोटि के विद्वानों का है। यह उच्चकोटि से सम्बन्ध रखते हैं। घरों की प्रथाओं और रिवाज में कोई बाधा नहीं डालते। मूर्ति-पूजा में विश्वास न भी हो परन्तु मन्दिर जाने में परहेज नहीं, न पंडितों और पुरोहितों की जीविका में विघ्न डालते हैं। उनके घरों में देवी-देवते भी पूजे जाते हैं और ताजियों की भी पूजा होती है। इसलिए कोई उनका विरोध नहीं करता।

स्वामी दयानन्द की गणना ऐसे चिकित्सकों में न थी। वह सुधार प्रिय थे। पर लोकप्रियता उन्हें अभीष्ट न थी। वे इसको चिकित्सा का शत्रु समझते थे। उन्हें रोगी की प्रसन्नता से अधिक रोग को दूर करने का ध्यान था। इसलिए स्वामी दयानन्द के सुधार का युग लोगों के विरोध से आरम्भ होता है।

व्यक्तिगत बुराइयों के कारण साधारण होते हैं और शीघ्र उनका निवारण भी हो सकता है परन्तु धार्मिक दोष के कारण असाधारण

होते हैं और उनकी दवा भी कठिन होती है। जो चिकित्सक केवल बाह्य रूप की चिकित्सा करते हैं वे रोग के मूल कारण का पता लगाने का कष्ट नहीं उठाते। स्वामी दयानन्द से पूर्व के धार्मिक सुधारकों के प्रयत्न इसलिए केवल बाह्य परिणामों तक ही सीमित रह गए। अस्तु, जनता के रहन-सहन के प्रकारों में कोई विशेष सुधार न हो सका।

एक उदाहरण से इसकी व्याख्या हो जाएगी। हिन्दुओं में बहुत दिनों से शिव विष्णु आदि सम्प्रदायों में लड़ाई-झगड़े चले आते थे। शिव के उपासक विष्णु के शत्रु थे और विष्णु के उपासक शिव के अनुयाइयों के। उनके मन्दिर अलग थे, उनके उपासना के प्रकार भिन्न थे और साथ ही उनके माथे पर तिलक लगाने के रूप भी भिन्न थे। आज भी दक्षिण में आप अनेक समुदायों के लोगों के टीके से ही उनकी भिन्नता को समझ सकेंगे। इन झगड़ों से समाज के शुभचिन्तक चिन्तित थे इसलिए लोगों ने चाहा कि यह भिन्नता किसी प्रकार कम हो जाए। भिन्नता दूर हो या न हो, लड़ाई-झगड़े दूर हो जाएँ।

महात्मा तुलसीदास जी भी एक धार्मिक सुधारक थे। वह थे तो केवल एक उच्चकोटि के कवि परन्तु उनकी कविता में समाज-सुधार और धर्म सुधार भी निहित था। इसलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि जो विष्णु का उपासक शिव के उपासक से द्रोह या वैमनस्य करता है वह विष्णु का सच्चा उपासक नहीं है। उन्होंने शिव तथा विष्णु के अनुयाइयों को मिल-जुलकर रहने की अनुमति दी है और उपदेश किया है। उन्होंने शिव की मूर्ति और विष्णु की मूर्ति के भेद को समाप्त करने का प्रयत्न नहीं किया और

न उन अनेकानेक कहानियों की आलोचना की है जो विष्णु तथा शिव धर्म से सम्वन्धित हैं। उन्होंने शिव पुराण और विषणु पर उनसे सम्बन्धित भी कोई अनुमति प्रकट नहीं की जिनके कारण यह धार्मिक द्रोह है इसका परिणाम इतना अवश्य हुआ कि इन धर्मों के बीच खींचातानी समाप्त हो गई, परन्तु वह विष्णु धर्म तथा विष्णु धर्म के मतभेदों को नहीं समाप्त कर सके।

स्वामी दयानन्द ने अनुभव किया कि वास्तव में इस विरोध का कारण पुराण है। जब तक पुराणों की कल्पित कहानियाँ धर्म का आधार रहेंगी सुधार न हो सकेगा। और यदि होगा भी तो ऊपरी तथा अस्थाई, इसलिए उन्होंने पुराणों का कठारे खण्डन किया। उन्होंने कहा कि पुराण धर्मशास्त्र नहीं हैं, वह वेदों की शिक्षा के विरुद्ध हैं।

वेदों में शिव तथा विष्णु दो नामों का उल्लेख है। जो एक सत्ता की दो विशेषताओं को प्रकट करते हैं। सत्ता एक है और नाम दो हैं। उपास्य एक है और उसके आकार में भी भेद नहीं। केवल नामों की भिन्नता से कोई झगड़ा नहीं होना चाहिए। उन्होंने यह नहीं कहा कि 'शिव द्रोही मम दास कहावे', अर्थात् शिव से स्नेह रखने वाला मेरा उपासक कैसे हो सकता है वरन् उन्होंने कहा कि शिव ही विष्णु है और विष्णु ही शिव है। ब्रह्म एक है दो नहीं। उनकी दो प्रकार की मूर्तियाँ बनाना है। अविद्या पर आधारित है। विष्णु और शिव दो भिन्न-भिन्न देवता नहीं हैं और शिवपुराण तथा विष्णु पुराण में इन दोनों देवताओं को अलग-अलग मानकर जो कहानियाँ रची गई हैं वह झूठी तथा बहकाने वाली हैं।

स्वामी दयानन्द की यह चिकित्सा होमियोपैथी की मीठी गोलियाँ

न थीं। यह चीर-फाड़ का कार्य था। यह स्वाभाविक था कि इस चीरफाड़ के कार्य से लोग डरे हुए थे और इसका विरोध करते थे। यह भारतवर्ष में उपस्थित सैकड़ों मन्दिरों का प्रश्न था जिनमें सैकड़ों करोड़ों यात्री दर्शन करते हैं। यह उन हजारों पंडितों और पुजारियों की जीविका का प्रश्न था जो मन्दिरों के समाप्त हो जाने से बेरोजगार और जीविकोपार्जन से हीन हो जाते हैं। इसलिए विरोध हुआ।

इसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने जीवन के प्रत्येक अंग को कसौटी पर कसा है। शिव तथा विष्णु के अनुयायी इतने दिनों तक परस्पर लड़ते रहे परन्तु उन्होंने भारतवर्ष में हिन्दू समाज की छोटी-छोटी जातियों में विभाजित होने पर कभी कोई आवाज नहीं उठाई। ब्राह्मणों की एक जाति सैकड़ों उपजातियों में विभाजित हो गई। क्षत्रियों की सैकड़ों उपजातियाँ हो गईं। हजारों प्रकार के वैश्य तथा शूद्र हैं। ये भिन्न-भिन्न हैं। न रोटी का सम्बन्ध; न बेटी का। न विष्णु के पंडे इनका विरोध करते हैं न शिव के। मन्दिरों के दर्शन करते रहो, चढ़ावे चढ़ाते रहो फिर चाहे कुछ भी क्यों न करो। स्वामी दयानन्द तो इस भिन्नता तथा विरोध के मूल कारण को खोजते हैं। वे वेदों से सिद्ध करते हैं कि समस्त मनुष्य जन्म से एक हैं। उनमें विभिन्नता केवल उनके गुण, कर्म और स्वभाव से उत्पन्न होती है। हर मनुष्य ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य हो सकता है। नीच से नीच कुल में जन्म लेकर भी ऊँच बन सकता है। सत्य और धर्म आचरण ऐसे गुण हैं जो हर शूद्र के लड़के को भी ब्राह्मण या देव बना सकते हैं। इस शिक्षा का भी वही परिणाम हुआ कि जो लोग केवल जन्म के आधार पर बिना किसी गुण या कर्म के समाज में एक विशेष पद पाए हुए थे वह शत्रु हो गए। जन्म के ब्राह्मणों ने कभी उन लोगों का विरोध नहीं

किया जो उनसे खाना बनवाते या सेवा का कार्य कराते रहे और साथ में पालागन भी करते रहे, उन्होंने स्वामी दयानन्द का विरोध किया। यह था जर्राही का कार्य और यही असली चिकित्सा थी। यही भेद है स्वामी दयानन्द के सुधारक होने और दूसरे सुधारकों में। □

14. धार्मिक सिद्धांतों का समन्वय

स्वामी दयानन्द के सुधारात्मक कार्य की सबसे विशेषता यह थी कि धार्मिक क्षेत्रों में जिन बातों को परस्पर विरोधी समझा जाता था उनको समन्वित कर दिया और उनकी इस प्रकार व्याख्या की कि वे शत्रु न रहकर मित्र बन गए।

संसार के पदार्थ बाह्य दृष्टि में भिन्न दिखाई पड़ते हैं–

एक जौक हम जहाँ को,

है जेब इखतिलाफ़ से।

अर्थात् भिन्नता ही जगत् का आभूषण है कोई दो पदार्थ एक नहीं।

हर वस्तु से दूसरी वस्तु कुछ भिन्न है। सूर्य और चन्द्र एक नहीं। पृथ्वी और आकश एक नहीं। नदी और पहाड़ एक नहीं। इसके अतिरिक्त किसी एक वस्तु के भिन्न-भिन्न अवयव एक नहीं। सिर और पैर एक नहीं। दाहिनी आँख और बाईं आँख एक नहीं। परन्तु इनमें असमता है विरोध नहीं। अथर्ववेद के एक मंत्र में इस बात को बड़ी सुन्दरता से दर्शाया गया है–

यथा द्यौश्च पृथ्वी च

न विभीतो न रिष्यतः।

एवा मे प्राण ! मा विभेः।।

अर्थ–जैसे प्रकाश और पृथ्वी न एक-दूसरे से डरते हैं और न एक-दूसरे को हानि पहुँचाते हैं। **इसी प्रकार 'हे मेरे प्राण तू डर मत।'**

हम जब जगत् में देखते हैं कि एक-दूसरे से विषमता बढ़ी हुई है और हर व्यक्ति दूसरे को मार डालने के लिए तत्पर है तो हमारा हृदय भयभीत हो उठता है। आप किसी ऐसे देश में जाएँ जहाँ घरेलू युद्ध हो वा कु-शासन हो और हर वस्तु या हर व्यक्ति दूसरे को समाप्त करने के लिए उद्यत हो, तो वहाँ आपको एक घण्टा ठहरना कठिन हो जाएगा। आपको हर समय ऐसा लगेगा कि आप शत्रु के मध्य में हैं। न जाने कब किसकी चपेट में आ जाएँ। परन्तु यदि देश में सु-शासन है तो आप सुख से रह सकते हैं। संसार में भी वही बात है। पृथ्वी और द्यौलोक लोक-लोकांतर हैं जो असमान है और नित्य भ्रमण करते रहते हैं। परन्तु इनका परिभ्रमण अपने-अपने क्षेत्रों में इस सुन्दरता के साथ होता है कि एक-दूसरे से टकराव नहीं होता और जगत् बिना किसी भय के स्थित रहता है।

हमने जिस विभिन्नता का यहाँ वर्णन कि ा है वह है लोक-परलोक का विरोध। मतमतांतरों के क्षेत्रों में लोक और परलोक दो परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं, एक इस लोक का नाशवान जीवन और दूसरा परलोक का अमर जीवन। जो लोग इस लोक का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उनको अपने परलोक से हाथ धोना पड़ेगा—

गर खुदा ख्वाही। य। ई दुनियाए दूँ।
ई खयालस्तो मुहालस्ता जनूँ।।

अर्थ—यदि ईश्वर को भी चाहता है और इस जगत् को भी, तो यह असम्भव और पागलपन है।

संसार को छोड़। परलोक मिलेगा। संसार को प्यार कर। परलोक हाथ से चला जाएगा। इस पर ऐहिक जीवन और पारलौकिक जीवन दो परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। एक को पकड़ने से दूसरी जाती है।

दोनों को प्राप्त करना असम्भव है।

स्वामी दयानन्द ने समझाया कि यह धारणा मिथ्या है। यदि इस लोक का शासक भी ईश्वर है और परलोक भी उसी के शासन में है तो असम्भव है कि एक ही शासक के दो देशों में इतना विरोध हो। यह अनुमान के भी विरुद्ध है, युक्ति के भी विरुद्ध है और अनुभव के भी विरुद्ध है।

स्वामी दयानन्द ने पहली बात यह बताई कि तुम जगत् के एक छोटे से अंश हो। तुम जगत् को किसी दशा में भी छोड़ नहीं सकते। हम सुनते हैं कि अमुक पुरुष ने संसार त्याग दिया परन्तु सम्भवतः हमने जगत् के एक प्रदेश को ही छोड़ दिया हो, परन्तु दूसरे भाग में तो वह उपस्थित है। उसने अपना घर छोड़ा, बन तो नहीं छोड़ा, घर भी जगत् का भाग है और बन भी। इसलिए उसको जगत् का त्याग करने वाला क्यों कहते हो ? पहले वह अपनी पत्नी की बनाई हुई रोटी खाता था, अब वह किसी घर से माँगकर खाता है। परन्तु पेट तो उसके साथ है।

लोग समझते हैं कि इस लोक और परलोक के बीच में एक पुल या सेतु है जिसे 'सिरातुल मौत' या 'मृत्यु का पुल' कह सकते हैं। इस पुल के इस पार 'यह लोक' है और उस पार 'परलोक'। परन्तु ऐसा नहीं है।

सम्भवतः इस्लाम और ईसाई धर्म जो जीवन के प्रवाह से अभिज्ञ नहीं हैं इस बात को मान लें। परन्तु यह धारणा है असत्य। मृत्यु लोक को परलोक से अलग नहीं करती, अपितु जीवन के एक कमरे को दूसरे कमरे से अलग करती है। 'अलग' शब्द का प्रयोग सार्थक नहीं है। वह एक कमरे को दूसरे कमरे से मिलाती है। (संलग्न करती

है। विलग्न नहीं करती)।

मौत दो जिन्दगियों के बीच का है दरवाजा।

जब प्राणी मरता है, तो एक ही जीवन से चलकर दूसरे जीवन में प्रविष्ट हो जाता है। इसीलिए उर्दू भाषा में मृत्यु के लिए 'इन्तिकाल' शब्द का प्रयोग होता है। वह समीचीन है। अर्थात् एक अवस्था से चलकर दूसरी अवस्था को प्राप्त करना।

मरकर हम जाएँगे कहाँ ? वह कौन-सा स्थान है ? कौन-सी योनि है ? जो इस जगत् से सम्बन्ध नहीं रखती। इस्लाम और ईसाइयत के लिए यह समस्या अबोधक रही है। जीव मरकर कहाँ जाता है ? इनका अस्तित्व भौगोलिक है अथवा काल्पनिक। इस्लाम और ईसाई धर्म के मन्तव्यों के अनुसार तो जब 'कयामत' होगी और हमारे पुण्य पाप का फल मिलेगा तो पुण्य वालों को स्वर्ग और पाप वालों को नरक मिलेगा। जो सदा रहेंगे। अर्थात् स्वर्ग में भी सदा रहेंगे और नरक में भी। परन्तु मृत्यु से लेकर कयामत तक वह कहाँ रहेंगे यह एक प्रश्न है।

स्वामी दयानन्द ने समझाया कि मृत्यु केवल एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को ग्रहण करने का नाम है। लोक-परलोक में कोई भेद नहीं। भिन्नता होगी परन्तु विरोध नहीं। इसलिए यह धारणा सर्वथा मिथ्या है कि यदि यह लोक बनाओगे तो परलोक हाथ से चला जाएगा। और परलोक बनाना है तो इस लोक को छोड़ना चाहिए।

स्वामी दयानन्द ने समझाया कि मृत्यु केवल एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को ग्रहण करने का नाम है। लोक-परलोक में कोई भेद नहीं। भिन्नता होगी परन्तु विरोध नहीं। इसलिए यह धारणा सर्वथा मिथ्या है कि यदि यह लोक बनाओगे तो परलोक हाथ से

चला जाएगा। और परलोक बनाना है तो इस लोक को छोड़ना चाहिए।

स्वामी दयानन्द ने वैशेषिक दर्शन के आधार पर यह बताया कि सच्चा धर्म वह है जो इस लोक और परलोक में सम्बन्ध स्थापित करता है। जिस सूत्र की ओर मेरा संकेत है उसका प्रायः यह अर्थ किया जाता है कि धर्म वह है जिससे अभ्युदय (इस लोक की उन्नति) और निश्रेयस (परलोक की प्राप्ति) हो। इसका अर्थ कुछ भिन्न प्रकार से करता हूँ। ऊपर की व्याख्या में धर्म के दो अंग बताए गए, अर्थात् अभ्युदय और निश्रेयस। इससे प्रकट होता है कि धार्मिक जीवन के दो भिन्न-भिन्न फल हैं। एक लोक की उन्नति और दूसरा परलोक की प्राप्ति, द्वन्द्व (भेद) तो फिर भी बना रहा। मेरी धारणा है कि वैशेषिक के आचार्य को यह द्वन्द्व इष्ट था। इसलिए इस सूत्र का यह अर्थ करना चाहिए कि—

'धर्म वह है जिससे अभ्युदय प्राप्त करते हुए निश्रेयस की सिद्धि हो सके।' अर्थात् अभ्युदय 'साधक' है निश्रेयस का।

इसको कुछ और स्पष्ट किया जाय।

धर्म का पहला प्रयोजन है 'अभ्युदय'। अभ्युदय को छोड़ देने से लोक तो नष्ट हो ही जाएगा। परन्तु पारलौकिक जीवन भी असम्भव होगा।

भूखे भजन न होय गोपाला।
ले लो अपनी कण्ठी माला।।
शब जो बन्दे नमाज में बन्दम्,
चि खुरद बामदाद फिरजन्दिम्।

केवल बच्चों का प्रश्न ही नहीं, मैं भी तो भूखा भजन नहीं कर सकता।

इसलिए जो लोग सोचते हैं कि इस लोक को छोड़कर परलोक बनावेंगे वह धर्म के तत्व को नहीं समझते। जगत् में रहकर जगत् की उन्नति से मुँह मोड़ना बड़ी गलती है। यदि परमेश्वर को यह अभीष्ट होता कि लोक-परलोक के मार्ग में कंटक है तो वह इस लोक को कदापि न बनाता।

हम तो सदैव यही स्तुति करते हैं कि ईश्वर ने अद्भुत जगत् का निर्माण किया। कुरान, बाइबिल, वेद, अन्य शास्त्र सभी जगत् के निर्माण की प्रशंसा के गीत गाते हैं।

फलक से जमी तक जमी से फलक तक।
करिश्मे तिरे जा बजा देखते हैं।

अर्थ–भूमि से लेकर आकाश तक और आकाश से लेकर भूमि तक तेरी ही विचित्र कारीगरी दृष्ट पड़ती है। भूमि भी जगत् है और द्यौलोक भी जगत्।

विज्ञान तो इसी प्रयत्न में संलग्न है कि जैसे अमेरिका और भारत में यातायात के साधन उत्पन्न हो जाने से यह दो समीपस्थ हो गए इसी प्रकार आकाश और पृथ्वी की दूरी कम हो जाए। और दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाएँ। ☐

15. लोक-परलोक की खाई

पृथ्वी और आकाश मिले हुए तो आज भी दिखाई देते हैं। और सदा ही मिले दृष्ट पड़ते रहेंगे, परन्तु ज्ञात नहीं कि संसार के लोगों में यह क्यों परिपाटी हो गई कि जिन दो पदार्थों का एक-दूसरे से अति अधिक अन्तर हो उनको भूमि और आकाश से उपमा दें। यहाँ भूमि है वहाँ आकाश है और वहाँ आकाश है यहाँ भूमि है। इसी प्रकार जो लोक है वही परलोक है। केवल दृष्टिकोण का भेद है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो यह प्रवाह अनन्त है। जो कभी समाप्त नहीं होता। हम जहाँ ठहरे हैं वह आदि भी है अन्त भी। आदि कहना आँधी से चाहिए क्योंकि इसके पहले केवल अभाव तो था नहीं कुछ तो था। और अन्त कहना भी आँधी से चाहिए क्योंकि इसके पीछे भी अत्यन्ताभाव तो होगा नहीं कुछ होगा।

'अजलो अवध सिरे हैं बशप के ख्याल के;
हक तो ये हैं कि हक था
कोई भी सिरा नहीं।'

अर्थ–आदि और अन्त मनुष्य की भावनाओं के सिरे हैं। सत्य तो यह है कि सत्य का न आदि है न अन्त है।

हम संसार की उन्नति के विषय से कथन कर रहे थे। परलोक की प्राप्ति इस लोक की प्राप्ति पर इसी प्रकार आधारित है जिस प्रकार यात्रा का एक भाग दूसरे भाग पर। मुझे इलाहाबाद से कलकत्ते जाना है। कलकत्ता मेरी अन्तिम मंजिल है और इलाहाबाद मेरी यात्रा

का आरम्भ है। इलाहाबाद से चलकर कलकत्ते पहुँचने तक जो अवकाश व्यतीत होगा उसे हम 'यात्रा' कहते हैं। यदि हम स्पष्टीकरण के हेतु उपमा से काम लें तो कहेंगे कि कलकत्ता परलोक है और इलाहाबाद से कलकत्ते तक पहुँचते-पहुँचते जो दूरी व्यतीत होगी उसका नाम संसार है। अब इस लोक का महत्व इस उपमा से ही स्पष्ट हो जाएगा। यदि इलाहाबाद से कलकत्ते तक सड़क न होती या बुरी सड़क होती तो हमारा इलाहाबाद से चलना कठिन होता और कलकत्ता पहुँचना भी। इसलिए हमारी यात्रा की सफलता के लिए सुदृढ़ और विश्वसनीय सड़क बनाई गई। और कलकत्ते तक की दूरी अधिक है और क्षणों में पूरी नहीं हो सकती, इसलिए यात्रा को सुखद बनाने का प्रयत्न किया गया है। बैठने के लिए अच्छे गद्दे और बिस्तरे, सोने के लिए समुचित स्थान, और गर्मी से बचने के लिए वैज्ञानिक साधन, भूख लगे तो खाना, प्यास लगे तो पानी वहीं प्राप्य कर दिया गया। यदि आप पैसे वाले हैं तो वहीं पर बैठे संसार भर की खबरें भी जान सकते हैं। परन्तु यह यात्रा है, मंजिल नहीं। क्योंकि इतनी सुविधाओं के होते हुए भी आपकी दृष्टि कलकत्ते पर है। कलकत्ता आते ही आप उतर पड़ेंगे या रेलवे के कर्मचारी आपको उतरने पर बाधित करेंगे। यात्रा और मंजिल में यही भेद है। और इस लोक और परलोक में भी यही भेद होना चाहिए।

मतमतान्तर वाले इस लोक को अधर्म और त्याज्य समझते रहे। इसीलिए मानव जाति दो भागों में विभक्त हो गई। पहली इस लोक को प्रिय समझने वाली। दूसरी परलोक को चाहने वाली। जिन्होंने इस लोक से प्रेम किया उन्होंने परलोक का ध्यान छोड़ दिया।

"अब तो आराम से गुजरती है

आकबत की खबर खुदा जाने।"

परन्तु ऐसे लोग इस लोक के सुखों को प्राप्त न कर सके। ऐसे दुनियादार व्यक्तियों और उनके वासनामय जीवन की शास्त्रकारों ने हड्डी चूसने वाले कुत्ते से उपमा दी है। कुत्ता एक सूखी हड्डी पाकर उसे चूसने लगता है। हड्डी सूखी है उसमें न मांस है न रुधिर। वही हड्डी उसके मुँह में घाव कर देती है। जिसमें रक्त का प्रवाह आरम्भ हो जाता है। कुत्ता समझता है कि वह हड्डी चूस रहा है और यह खून उसी हड्डी में से आ रहा है। वास्तविकता यह है कि वह अपना ही खून चूस रहा है। इसी प्रकार इस लोक में जिसे हम आनन्द कहते हैं इसके भीतर यदि परलोक का भाव नहीं होता तो वह आनन्द शीघ्र दुःख में परिणत हो जाता है।

परलोक की प्राप्ति के लिए किस नियम की आवश्यकता है ?

योगदर्शन में धर्म के 5 विशेष लक्षण हैं—

(1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय, (4) ब्रह्मचर्य, (5) अपरिग्रह।

अब प्रश्न यह है कि यह नियम इस लोक के लिए हितकारी और परलोक के लिए हानिकारक हैं या परलोक के हितकारी और इस लोक के लिए हानिकारी हैं अथवा दोनों के लिए आवश्यक अथवा अनावश्यक और हानिकारक ?

अहिंसा और हिंसा दो विरोधी वृत्तियाँ हैं। अहिंसा के गुण से सम्पन्न मनुष्य किसी की बुराई नहीं चाहता। जिसने अहिंसा का पालन नहीं किया वह मनुष्य किसी प्राणी पर अत्याचार करने से रुक नहीं सकता। यदि दुनिया के तमाम लोग अहिंसा छोड़ दें तो दुनिया में कोई काम न चले।

सभ्य लौकिक जीवन और असभ्य जीवन में यही भेद है। असभ्य

जातियाँ कोई लौकिक उन्नति नहीं कर सकतीं। उनको अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र और अच्छे मकान प्राप्त नहीं हैं। क्या वे परलोक के अधिक निकट हैं ? भेड़िया, सिंह, चीता अहिंसा के नियमों के अनुयायी नहीं। क्या आप उनको इस लोक में सफल समझते हैं ? अहिंसा का पालन इस लोक की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कृषि, कला-कौशल आर्थिक तथा नैतिक जीवन सब उसी नियम के आश्रित हैं कि 'जीवित रहो और जीवित रहने दो।' वैज्ञानिकों के अन्वेषणों और आविष्कारों के लिए, कवियों के काव्य के लिए, बजाजों और वस्त्रों के कारखानों की सफलता के लिए अहिंसा आवश्यक है। जब अत्याचार बढ़ जाते हैं और सामाजिक न्याय में कमी आ जाती है तो घरेलू युद्ध आरम्भ हो जाता है और घरेलू युद्ध में वे सब विभाग विकृत हो जाते हैं जिनका इस लोक की उन्नति से सम्बन्ध है।

इसी तरह सत्य बोलने और सत्याचरण में भी वही बात लागू होती है। प्रायः लोगों की धारणा है कि सत्य बोलना शायद परलोक के लिए आवश्यक हो परन्तु इस लोक में तो झूठ के बिना काम नहीं चलता यह बात असत्य है। और अनुभव के विरुद्ध भी। मैं आयु भर यात्रा करता रहा और इक्का, गाड़ी, रिक्शा, किराये पर लेता रहा। मुझे कभी दुर्घटना न मिली कि बिना किसी लिखा-पढ़ी के रिक्शा वाले ने अधिक मांगने पर आग्रह किया हो। मेरा तात्पर्य यह है कि एक साधारण मनुष्य भी सत्यता के मूल को समझता है। इस लोक के दयनीय जीवन के लिए सम्भवतः उसे परलोक का ध्यान न हो। यदि साधारण लोग सच्चाई के इस मूल की अवहेलना करें तो संसार का काम न चले। जब हम इस लौकिक जीवन में अहिंसा सत्य आदि का प्रतिदिन अभ्यास करते रहें तो हमारे ये गुण परिपक्व

हो जाते हैं।

बचपन से हमको सिखाया जाता है कि झूठ मत बोलो। भाई-बहन से प्यार करो नहीं तो घर बरबाद हो जाएगा। हमारा घर इन गुणों के निर्माण के लिए एक पाठशाला है। जब हमको सत्याचरण से प्रेम हो जाता है तो सत्य की खोज भी होती है। इसी से सत्य की पहचान होने लगती है।

ब्रह्मचर्य सांसारिकों के लिए अनावश्यक है या हानिकारक समझा जाता है; लेकिन ब्रह्मचर्य पर ही सामाजिक जीवन का दृढ़ आधार है। जिस मनुष्य को अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं वह पारिवारिक कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता। उसका लोक भी बिगड़ता है परलोक भी। ऐसा मनुष्य स्वर्ग का अधिकारी नहीं हो सकता। न केवल अपने मन पर संयम रखने की आवश्यकता है अपितु अनाचार के जीवन से घृणा की भी आवश्यकता है। अनाचारी और व्यभिचारी मनुष्य स्वास्थ्य से हाथ धो बैठता है, उसको सैकड़ों रोग लग जाते हैं; वह भोजन का स्वाद भी नहीं ले सकता और लौकिक दृष्टि से असफल रहता है। इसलिए ब्रह्मचर्य का जीवन हमारी लौकिक उन्नति के लिए भी आवश्यक है और धार्मिक उन्नति के लिए भी।

अब आइए 'अपरिग्रह' पर। अपरिग्रह एक संस्कृत का शब्द है परिग्रह का अर्थ है किसी वस्तु से जकड़ जाना (परि + ग्रह) जो वस्तु चारों ओर से जकड़ ले। अपरिग्रह का अर्थ यह है कि ऐसा यत्न करना कि हम किसी अच्छी चीज से चिपक न जाएँ। संसार में आनन्द देने वाली वस्तुएँ तो बहुत हैं मगर हम उनसे अधिक देर तक लगाव नहीं रख सकते। हमारा उनका सम्बन्ध सामयिक है। यदि इसी सामयिक सम्बन्ध को हम नित्य समझ लेते हैं और इनके

साथ चिपके रहने की कोशिश करते हैं तो वही चीजें दुःख का कारण हो जाती हैं और हम उनको छोड़ने पर मजबूर हो जाते हैं। यदि आपको विशेष भोजन प्रिय है तो आप उसे मुँह में ले जाने का यत्न करते हैं परन्तु उसे मुँह में देर तक रखने का यत्न करें तो आपको उससे घृणा हो जाएगी।

माता अपने बच्चे से प्रेम करती है, उसे गोद में लेती है और बार-बार प्यार करती है, परन्तु यदि वही बच्चा सदैव गोद में रहना चाहता है तो माँ को उससे उपरति हो जाती है।

हर यात्रा की यही दशा है। यात्रा-यात्रा है, अन्तिम ध्येय नहीं। यात्रा वह है जिसमें आप किसी जगह पर पैर रखें और उठा लें। यदि आपने किसी जगह पर पैर रखा और पैर वहीं जम गया तो उसको अच्छा मार्ग नहीं कहेंगे।

इसलिए स्वामी दयानन्द ने यह शिक्षा दी कि लोक और परलोक के बीच बड़ी खाई नहीं है। धर्म वह है कि जिसमें लौकिक उन्नति इस प्रकार की जाए कि वह उन्नति परलोक के लिए एक साधन बन सके। जब तक जियो लोक और लोक वालों की उन्नति के लिये। परन्तु सदा यह ध्यान रखो कि यह यात्रा है मंजिल नहीं। यात्रा का तो किसी दिन अन्त होना ही है इसमें लवलीन रहना और भविष्य को भूल जाना भूल है।

स्वामी दयानन्द ने लोक और परलोक की खाई को पाट दिया। दो परस्पर विरोधी वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित कर दिया। यह एक विशेष बात है। इसलिए हम कहते हैं कि महाभारत के बाद जो सुधारक उत्पन्न हुए उसमें स्वामी दयानन्द का विशेष स्थान है। ☐

16. स्वामी दयानन्द का कार्य-क्षेत्र

महाभारत के पश्चात् जो सुधार हुए वह सर्वाङ्गी न थे, इसलिए उन सुधारों ने यद्यपि समाज को उत्कृष्ट बनाने और बुराइयों को दूर करने में कुछ प्रगति की और किसी सीमा तक सफलता भी प्राप्त की, तथापि उनका प्रभाव स्थायी न रहा। परन्तु स्वामी दयानन्द सर्वाङ्गी सुधारक थे। वह एकाङ्गी सुधार से सन्तुष्ट नहीं थे, वह मनुष्य जीवन के हर विभाग को लेते हैं और अनुपाततः लेते हैं, (अर्थात् जिसका जितना महत्व है, उसको उतना महत्व देते हैं।) स्वस्थ शरीर वह है जिसके सब अंग अनुपाततः संवृद्ध होते हैं और प्रत्येक अंग अपनी आत्म-रक्षा के साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर की रक्षा में भी योग देता है। यदि आपके शरीर का कोई अंग बढ़ जावे जैसे तिल्ली या जिगर तो यह रोग के चिह्न हैं, क्योंकि इनका सीमा से बढ़ जाना शरीर के अन्य अंगों को कष्टदायक होता है। इसी प्रकार यदि किसी दरिद्र कुल या दरिद्र देश के पास इतनी सम्पत्ति हो जाए कि कोई (नियंत्रण) न रहे तो वह सम्पत्ति न केवल उसी कुल या देश के नाश का कारण बन जाएगी वरन् समस्त संसार को क्लेश में डाल देगी। अतः आवश्यक है कि किसी अवयवी (समग्र वस्तु) के भिन्न-भिन्न अंगों में जो संवृद्धि हो वह अनुपात से अति न्यून या अत्यधिक न हो। कई महात्माओं ने वैराग्य पर इतना बल दिया कि गृहस्थ-धर्म नष्ट हो गया। साधु इतने बढ़े कि 'असाधु' हो गए। कई साहित्यकारों ने साहित्य के किसी एक विशेष अंग जैसे व्याकरण को इतना आगे बढ़ाया कि साहित्य के अन्य अंग अधूरे रह गए। कई विद्वानों ने जगत् के नाशवान् होने पर इतना बल दिया कि लोग जगत् की भौतिक उन्नति से विमुख

हो गए।

स्वामी दयानन्द का मार्ग इससे भिन्न है। वह जिसका सुधार करना चाहते हैं, उसके सब अंगों पर गम्भीर दृष्टि डालते हैं। वह देखना चाहते हैं कि इस मशीन का कौन-सा पुरजा खराब है। उसमें क्या त्रुटि है और उस त्रुटि का समस्त मशीन पर क्या प्रभाव पड़ता है।' वह ऐसा सुधार नहीं चाहते कि एक पुरजा सुधर जाए और साथ ही दूसरा पुरजा खराब हो जाए।

अब आप स्वामी दयानन्द के सुधार की सम्पूर्ण योजना पर दृष्टि डालिए। सुधार के अनुशासन के लिए उनके तीन मुख्य ग्रन्थ हैं, जो एक-दूसरे के पूरक हैं। एक 'सत्यार्थ प्रकाश', दूसरा 'संस्कार विधि', तीसरा 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका।' इनके अतिरिक्त कतिपय छोटी-छोटी पुस्तकें हैं, जिनका हम यहाँ उल्लेख करना नहीं चाहते। 'सत्यार्थ प्रकाश' और 'संस्कार-विधि' सर्वसाधारण के लिए लिखी गईं। 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' केवल वेद पाठ करने वालों और वेदों के ध्ययनशील पंडितों के लिए है। तथापि 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में सर्वसाधारण के समझने के लिए पर्याप्त सामग्री है। 'सत्यार्थ प्रकाश' में यत्न किया गया है कि मनुष्य जीवन की सामूहिक एकता तथा उसके भिन्न-भिन्न सभी अंगों को लक्ष्य में रखा जाए। मानव जीवन अनेक भिन्न-भिन्न अंगों का सामूहिक रूप है, और उसके प्रत्येक अंग में कुछ न कुछ सुधार की आवश्यकता होती है। अतः वह सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे समुल्लास में मनुष्य जीवन के आरम्भ से उपदेश देते हैं। उन्होंने देखा कि भारतवर्ष में बच्चों की शिक्षा की सबसे बड़ी दुर्दशा है। बच्चों की उत्पत्ति क्यों की जाय, कैसे की जाय और उसमें क्या-क्या सावधानी रखी जाय इसका सत्यार्थ प्रकाश

के दूसरे और तीसरे समुल्लासों में वर्णन है।

परन्तु 'मनुष्य जीवन' केवल बचपन का ही ता नाम नहीं है, गृहस्थ का इससे सम्बन्ध है। इसकी अधिक जानकारी की इच्छा हो तो आप सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे समुल्लास के साथ-साथ 'संस्कार विधि' के कुछ आरम्भिक संस्कारों (जैसे गर्भाधान, जातकर्म आदि) की विधियों, प्रथाओं और मन्तव्यों पर दृष्टि डालिए। सत्यार्थ प्रकाश वैज्ञानिक प्रवचन है। अमुक काम क्यों किया जाए ? इसका मूल उद्देश्य क्या है ? संस्कार-विधि में केवल 'क्रिया' करके दिखलाया है। परन्तु वह क्रिया न तो नीरस है न अर्थ शून्य। जो वेद मन्त्र पढ़े जाते हैं और जिस प्रकार से उसका उपयोग किया जाता है उन पर विचार करने ही सुधार की पूरी योजना समझ में आ जाती है।

आजकल आर्यसमाज में जितना ध्यानपूर्वक 'सत्यार्थ प्रकाश' पढ़ा जाता है, उतना ध्यान संस्कार-विधि पर नहीं दिया जाता। यद्यपि हमारे घरों में संस्कार-विधि का सब दिनों काम पड़ता है। बच्चे उत्पन्न होते हैं। उनके संस्कार भी होते हैं। हवन होता है पण्डित जी पधारकर समस्त क्रिया-कलाप को विधिपूर्वक कराते हैं, परन्तु प्रायः यह समझ लिया गया है कि यह सब काम पण्डित जी का है, हमारा नहीं। हम उनको निमन्त्रित करें। उनका सत्कार करें। उनको दक्षिणा दें। यह सब तो ठीक है परन्तु हमको क्या पड़ी कि संस्कार-विधि के कौन से भाग से हमारे जीवन के किस भाग का क्या सम्बन्ध है ? इसलिए 'संस्कार-विधि' पुरोहिताई मात्र की पोथी रह गई है। उपदेशक लोग भी संस्कार-विधि को अपने व्याख्यानों का विषय नहीं बनाते। परन्तु स्वामी दयानन्द के सर्वाङ्गी सुधार का वह भी एक अंग है।

चौथे समुल्लास में समाज़ निर्माण के लिए परिवार के संगठन

की आवश्यकता है। स्त्री-पुरुष विवाह के पवित्र संस्कार को करके ऐसे संयुक्त हो जाएँ कि कोई यह न जान सके कि यह अन्य और यह अन्य। पति-पत्नी में अनन्यत्व होना चाहिए।

ऐसे गृहस्थ-निर्माण में महाभारत के पश्चात् क्या त्रुटियाँ उत्पन्न हो गईं इस पर पहले किसी सुधारक ने इतना बल नहीं दिया। बड़े-बड़े आचार्यों के उच्च कोटि के दार्शनिक ग्रन्थों में इसके सुधार में स्त्री-पुरुष के अधिकारों, कर्तव्यों और परस्पर सम्बन्ध का जितना विस्तृत वर्णन स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में है उतना अन्यत्र नहीं पाया जाता। प्राचीन ऋषियों की लिखी हुई कुछ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं जैसे गृह्यसूत्र। परन्तु यह सूत्र भी मीमांसात्मक नहीं, प्रथात्मक मात्र है।

स्वामी दयानन्द से पूर्व सर्वसाधारण में केवल दो ही संस्कार प्रसिद्ध थे एक 'विवाह', दूसरा 'जनेऊ'। 'जनेऊ' या 'यज्ञोपवीत' तो ब्राह्मणों तक सीमित रह गया। 'विवाह' एक ऐसा संस्कार था जिससे न केवल सन्तानोत्पत्ति का ही सम्बन्ध था अपितु सन्तान के उचित, अनुचित तथा दायभाग का भी प्रश्न था, अतः सार्वजनिक संस्कार रह गया। परन्तु विवाह ने इतना महत्व प्राप्त कर लिया कि माता-पिता को बच्चा उत्पन्न होते ही विवाह की चिन्ता हो जाती है, और इस कर्तव्य को पूरा करना उनका प्रथम कर्तव्य समझा जाता है। इसलिए यदि चार साल के लड़के या लड़की का विवाह करके माँ-बाप छुट्टी पाएँ तो इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है।

परन्तु जब विवाह ही पर समस्त चिन्ताएँ केन्द्रित हो गईं तो अन्य कर्तव्यों की उपेक्षा हो गई।

स्वामी दयानन्द ने विवाह के सम्बन्ध में जो सुधार किए वह एक विशेष महत्व रखते हैं। हमने नहीं पढ़ा कि शंकराचार्य महाराज

ने अपने किसी राजे शिष्य को यह उपदेश दिया हो कि बचपन का विवाह नहीं करना चाहिए। पुरुष बहुत-सी स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं। इसकी रोक-थाम करो। या जो स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं उनके विषय में कुछ विचार करो। यह विषय इन महान् आचार्यों के विचार-क्षेत्र की सीमा से बाहर की चीज थी।

परन्तु स्वामी दयानन्द के लिए तो मनुष्य जीवन का कोई भाग इतना महत्त्व-शून्य नहीं है कि उसकी उपेक्षा की जा सके। एक योग्य चिकित्सक जीभ देखता है। आँख का पलक देखता है। नाखून का रंग देखता है, नाड़ी देखता है, हिचकी हो, खाँसी हो, जँभाई हो, सभी अंगों का अध्ययन करता है तभी तो रोग को दूर कर सकता है। एक अच्छे कारखाने का मालिक मशीन के बड़े-बड़े पुरजों का उतना ही ध्यान रखता है जितना कि छोटे-छोटे पुरजों का। कभी-कभी मशीन का एक छोटा-सा पुरजा सारी मशीन को रोक देता है। आपके पैर की उँगली का नाखून कभी इतना कष्ट देता है कि आप अपने शरीर के अन्य स्वस्थ अंगों से कुछ काम नहीं ले सकते।

समाज सुधार ही यही दशा है। यदि समाज भ्रान्तियों में ग्रस्त है और ज्योतिष पर विश्वास रखता है तो किसी विशेष 'ग्रह' की विशेष 'गति' आपके समस्त प्रयासों को निष्फल करने के लिए पर्याप्त है। ग्रह-विज्ञान बुरा नहीं। परन्तु ग्रह-विज्ञान के साथ-साथ भूमिज्ञान को भूलना आज महापातक है।

अंजुम शनाश को भी खलल है दमाग का।
पूछो अगर जमी की, कहे आसमाँ की बात।

'ज्योतिष पागल हो गया है। भू-लोक की बात पूछो तो द्यौ-लोक की बात बताता है।'

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे समुल्लास में फलित

ज्योतिष का इसलिए खण्डन किया है। यह बड़ा आवश्यक था। हिन्दुओं के मध्य में ग्रह-पूजा का इतना मान बढ़ गया था कि जीवन के अन्य विभाग फीके पड़ गए थे। आप किसी विद्वान् पण्डित पुरोहित से यह परामर्श नहीं करते कि अमुक वर मेरी पुत्री के योग्य है या नहीं। आप यह पूछने जाते हैं कि अमुक ग्रह क्या कहता है या क्या चाहता है।

ऋषि दयानन्द लिखते हैं–

"और जब किसी ग्रहग्रस्त, ग्रहरूप ज्योतिर्विदाभास के पास जा के वे कहते हैं 'हे महाराज ! इसको क्या है ?' तब वे कहते हैं कि 'इस पर सूर्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इनकी शान्ति-पाठ, पूजा, दान कराओ तो इसको सुख हो जाय, नहीं तो बहुत पीड़ित होकर मर जाय तो भी आश्चर्य नहीं।"

उत्तर–कहिए ज्योतिर्वित् ! जैसे यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही सूर्यादि लोक हैं। वे ताप प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सके ?

प्रश्न–क्या जो यह संसार में प्रजा सुखी-दुःखी हो रहे हैं यह ग्रहों का फल नहीं है ?

उत्तर–नहीं, ये सब पाप-पुण्यों के फल हैं।

प्रश्न–तो क्या ज्योतिषशास्त्र झूठा ?

उत्तर–नहीं जो उसमें अंक, बीज, रेखागणित विद्या है वह सब सच्ची, जो फल की लीला है वह सब झूठी है।

प्रश्न–क्या जो यह जन्मपत्र है सो निष्फल है ?

उत्तर–हाँ, वह जन्मपत्र नहीं किन्तु उसका नाम 'शोकपत्र' रखना चाहिए, क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है तब सबको आनन्द होता है परन्तु वह आनन्द तब तक होता है कि जब तक जन्मपत्र

बन के ग्रहों का फल न सुनें। जब पुरोहित जन्मपत्र बनाने को कहता है तब उसके माता, पिता पुरोहित से कहते हैं 'महाराज ! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइए।' जो धनाढ्य हो तो बहुत-सी लाल-पीली रेखाओं से चित्र-विचित्र और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बना के सुनाने को आता है। तब उसके माँ-बाप ज्योतिषी जी के सामने बैठ के कहते हैं 'इसका जन्मपत्र अच्छा तो है ?' ज्योतिषी कहता है 'जो है जो सुना देता हूँ। इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी बहुत अच्छे हैं जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान्, जिस सभा में जा बैठेगा तो सबके ऊपर इसका तेज पड़ेगा, शरीर से अरोग्य और राज्यमानी होगा।' इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं 'वाह-वाह ज्योतिषी जी आप बहुत अच्छे हो।' ज्योतिषी जी समझते हैं इन बातों से कार्य सिद्ध नहीं होता। तब ज्योतिषी बोलता है कि 'ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं, परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं अर्थात् फलाने फलाने ग्रह के योग से 8 वर्ष में इसका मृत्यु योग है। इसको सुन के माता-पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़ के शोक सागर में डूबकर ज्योतिषी जी से कहते हैं कि 'महाराज जी ! अब क्या करें ?' तब ज्योतिषी जी कहते हैं 'उपाय करो।' गृहस्थ पूछे 'क्या उपाय करें ?' ज्योतिषी जी प्रस्ताव करने लगते हैं कि ऐसा ऐसा दान करो। ग्रह के मन्त्र का जप कराओ और नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जाएँगे।'

जो पुरजा मशीन की चाल में बाधक है, वही खराब है चाहे वह कितना ही बड़ा, कितना मूल्यवान, और कितना सुन्दर क्यों न हो। इसलिए मशीन की सामूहिक दशा पर विचार करके उसका सर्वांगीण सुधार होना चाहिए। □

17. दार्शनिक समन्वय

स्वामी दयानन्द के सुधारों में एक बहुत बड़ी विशेषता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह विशेषता है 'दार्शनिक समन्वय'। वैदिक साहित्य में षड्दर्शन (छः दर्शन) प्रसिद्ध हैं—(1) न्याय, (2) वैशेषिक, (3) सांख्य, (4) योग, (5) जैमिनि दर्शन या पूर्व मीमांसा, (6) वेदांत या उत्तर मीमांसा।

अंग्रेजी में इनको 'फिलास्फी के 6 स्कूल' (Six Schools of Hindu Philosophy) कहते हैं। 'स्कूल' अंग्रेजी शब्द है जिसका अर्थ है सम्प्रदाय। प्रसिद्ध तो यही है कि हिन्दुओं के दर्शनों के 6 सम्प्रदाय हैं, जो परस्पर ऐक्य नहीं रखते। अर्थात् भिन्न-भिन्न हैं। सांख्य दर्शन के लिए यही धारणा है कि वह अनीश्वरवादी है। योग दर्शन के लिए कहा जाता है कि वह सांख्य से मिलता-जुलता है। परन्तु यह ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है, न्याय और वैशेषिक भौतिकवादी माने जाते हैं। मीमांसा के लिए प्रसिद्ध है कि वह वेदों को तो मानता है परन्तु ईश्वर अस्तित्व को नहीं। वेदांत के लिए प्रसिद्ध है कि वह जगत् के अस्तित्व को असत्य या मिथ्या मानता है और 'ब्रह्म' के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की नित्यता को स्वीकार नहीं करता। वेदांत की दृष्टि में 'ब्रह्म' ही नित्य अर्थात् अनादि और अनन्त है। आरम्भ के पश्चात् और अन्त के पूर्व जो कुछ दृश्य है वह सब वास्तविक अस्तित्व नहीं रखता। इसका अस्तित्व कल्पना-जन्य है। इसी का

नाम 'माया' है।

स्वामी शंकराचार्य वैदिक धर्म के बहुत बड़े सुधारक थे। परन्तु उन्होंने वेदांत दर्शन का भाष्य करते हुए शेष पाँच दर्शनों की बड़ी कठोर आलोचना की है और स्थान-स्थान पर उनके आचार्यों के लिए अप-शब्दों का भी प्रयोग भी किया है। स्वामी शंकराचार्य के पश्चात् इन दर्शनों का परस्पर विरोध इतना बढ़ गया कि कई दलों या सम्प्रदायों की ओर से एक-दूसरे के विरुद्ध बहुत बड़ा साहित्य बन गया। और आप सुगमता से समझ सकते हैं कि गुरु तो गुड़ रहे चेले शक्कर हो गए।

पीरा न मे परन्द मुरीदां मे परानन्द।

अर्थात् गुरु तो स्वयं उड़ते नहीं, चेले उनको उड़ाते हैं। जहाँ आचार्य लोग नहीं पहुँचना चाहते या पहुँच पाते वहाँ चेले उनको पहुँचा देते हैं। सम्प्रदायों का सूत्रपात शायद आचार्यों की ओर से हुआ हो, परन्तु उनकी सम्पुष्टि तो शिष्यों के द्वारा ही होती है। और इस सम्बन्ध में जितना कार्य स्वामी शंकराचार्य के शिष्यों ने किया है उतना किसी ने नहीं किया। स्वामी शंकराचार्य स्वयं प्रकाण्ड विद्वान् और संस्कृत भाषा के उद्भट पण्डित थे। उनके शिष्य भी वैसे ही हुए और उन्होंने बाल की खाल निकालने का काम अपने हाथ में लिया और दर्शन-क्षेत्र को विस्तृत और प्रभावशाली बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सर्वसाधारण को स्वयं निश्चय करना कठिन हो गया और विद्वत्मण्डली में यह विख्यात हो गया कि जब वैदिक धर्म को मानने वाले दर्शनाचार्य ही एक-दूसरे से मेल नहीं खाते तो दूसरे उच्चवर्गीय सम्प्रदाय कैसे समन्वित हो सकते हैं। इस बात ने हिन्दू धर्म के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। बहुत से लोग जिन्होंने न्याय दर्शन का अध्ययन

किया नास्तिक हो गए। और बहुत से जिन्होंने वेदांत दर्शन का मनन किया, वेद-शास्त्रों को भी अविद्या और अविद्या मूलक मानने लगे।

स्वामी दयानन्द ने 6 दर्शनों का अध्ययन करके एक नई बात निकाली जो पहले कभी सुनी नहीं गई थी और जिसकी ओर भारतीय या विदेशी विद्वानों का ध्यान नहीं था।

उन्होंने पहली बात तो यह बताई कि छओं दर्शन वेदों को ईश्वरीय ज्ञान या स्वतः प्रमाण मानते हैं। यह सबसे बड़ी सचाई है जो उन्होंने वर्णन की। इन दर्शनों में ऐसे सूत्र मिलते हैं जिनसे उनका वेदानुकूल होना सिद्ध होता है 'मीमांसा' तो कहता ही यह है कि–

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'

जो वेद में है वही धर्म है, जो धर्म है वही वैदिक है। जो वेदानुकूल नहीं वह धर्म नहीं। धर्म की एक ही कसौटी है। वह यह है कि वह वेदों के अनुकूल हो। वेदांत में तो ब्रह्म को शास्त्र की योनि 'शास्त्र योनित्वात' माना है।

यदि यह बात सच है तो छओं दर्शन परस्पर समन्वित हो जाते हैं। और यदि कुछ भिन्नता दृष्ट भी होती है तो वह गौण या प्रतीति मात्र है। गुलाब के एक ही पेड़ से दो भिन्न गुलाब के फूल हो सकते हैं परन्तु वह दोनों होंगे गुलाब ही। उनके गुण भी समान होंगे उनमें विरोध न होगा। उनकी भिन्नता का भी कोई विशेष अर्थ होगा।

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में एक स्थल पर इसी प्रश्न की विवेचना की है कि क्या 6 दर्शनों के मन्तव्यों में विरोध है।

वह कहते हैं कि सैद्धांतिक रूप से छओं दर्शन एक हैं, उनमें कोई भेद नहीं। केवल वर्णनशैली या दृष्टिकोण में भिन्नता है। इसका एक दृष्टांत लीजिए–

यदि कोई वनस्पति शास्त्र के आचार्य दो ग्रन्थों का निर्माण करें एक का विषय हो 'फूल' और दूसरे का 'फल'। तो उनका दृष्टिकोण भी एक न होगा और शैली भिन्न-भिन्न भी होगी। परन्तु यतः फल और फूल दोनों अपने जीवन-रस को एक ही उद्गम से प्राप्त करते हैं अर्थात् 'मूल' अतः मौलिक विषयों में दोनों सम होंगे। यदि एक तीसरा ग्रन्थकार तीसरे भिन्न विषय अर्थात् 'पत्थर' पर पुस्तक लिखे तो वह ग्रन्थ फूल वाले ग्रन्थ से अधिक असमान होगा।

इसी प्रकार यद्यपि छः दर्शनों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य की असंख्य पुस्तकें हैं जैसे छन्द ज्योतिष इत्यादि। परन्तु वेदांत और मीमांसा, वेदांत और न्याय एक-दूसरे के अधिक समान हैं छन्द की अपेक्षा से।

दूसरी बात स्वामी दयानन्द ने यह बताई कि यदि सभी दर्शन वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं तो वह ईश्वर के अस्तित्व का कैसे निषेध कर सकते हैं। क्योंकि वेदों की मान्यता का अर्थ ही यह है कि वेदों के रचयिता ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय। क्या कोई ऐसा भी पुरुष होगा जो शेक्सपियर या कालिदास के ग्रन्थों को स्वीकार करे और इन दोनों कवियों के अस्तित्व का निषेध करे।

स्वामी दयानन्द का कथन है कि सृष्टि की रचना में तो कई प्रश्नों का सम्बन्ध है। आप किसी बनी हुई वस्तु को लीजिए। मैं जिस मेज पर बैठा लिख रहा हूँ इसके विषय में कई प्रश्न उठ सकते हैं। इनके उत्तर भी भिन्न-भिन्न होंगे परन्तु परस्पर विरुद्ध नहीं।

मेज किसने बनाई ? किस चीज से बनाई ? कब बनाई ? कितने समय में बनाई ? किसलिए बनाई ? क्या इस मेज के अतिरिक्त भी कोई और पदार्थ है ? और उन पदार्थों का इस मेज से क्या

सम्बन्ध है ? इन सब प्रश्नों के उत्तर एक तो हो नहीं सकते। परन्तु परस्पर विरोधी न होंगे। इसी प्रकार वेदांत दर्शन में विशेषतया एक प्रश्न उठाया ? अर्थात् 'ब्रह्म क्या है ? और इसका यह उत्तर दिया कि ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि की रचना, पालन और लय होता है।

'जन्माद्यस्य यतः'

यह सूत्र लिखकर इसी की मीमांसा की गई। और जब ऊहापोह आरम्भ हो गया तो अन्य प्रश्नों पर भी गौण रीति से प्रकाश डाला गया।

जैसे ईश्वर उपादान कारण है अथवा निमित्त कारण ? और क्या कोई अन्य पदार्थ भी अस्तित्व रखते हैं जिनके कारण ब्रह्म जिज्ञासा आवश्यक समझी गई ? लोग समझते हैं कि वेदांत दर्शन में जीव और प्रकृति का अलग अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया ? यह धारणा कितनी भ्रांतिपूर्ण है। सूत्रकार ऋषि व्यास ने तो पहले ही सूत्र में लिख दिया कि हमको ब्रह्म की 'जिज्ञासा' और ज्ञान की इच्छा है। ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा उसी की होगी जो ब्रह्म न हो अपितु ब्रह्म से सम्बन्ध रखता हो। यदि केवल एकमात्र सत्ता ब्रह्म ही होती और ब्रह्म से इतर कोई सत्ता होती ही नहीं, तो ब्रह्म जिज्ञासा का प्रश्न ही न उठता। न बाँस होता न बाँसुरी। पहला सूत्र ही यह बताता है कि जगत् में कुछ ऐसी सत्ताएँ भी हैं जो ब्रह्म तो नहीं हैं परन्तु ब्रह्म से सम्बन्ध रखती हैं और उनके विषय में अनेक मिथ्यावाद उत्पन्न हो जाते हैं। इसके लिए बुद्धि की कसौटी पर परीक्षा करने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार जब वैशेषिक दर्शन ने केवल अग्नि, वायु, आकाश, पृथ्वी, जल तत्वों का उल्लेख किया तो महर्षि कणाद को जगत् के उपदान कारण की मीमांसा करनी थी। उन्होंने ब्रह्म की उपेक्षा नहीं

की, न वेदों की। जब हम कहते हैं कि नाक, कान, मिट्टी के लोथड़े हैं और मृत्यु के पश्चात् मिट्टी में मिल जाएँगे तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि मेरे जीवन में मेरी नाक या कान का मेरी जीवात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। आँख भौतिक है परन्तु आँख का प्रयोग भौतिक नहीं। आँख से मैं देखता हूँ। आँख स्वयं नहीं देखती, इस प्रकार हर एक भौतिक पदार्थ के पीठ पीछे एक अभौतिक (आत्मिक) सत्ता निहित है। जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। जीवन वस्तुतः जीव और प्रकृति के विशेष संयोग का नाम है, और इन भौतिक और आस्तिक तत्वों के यथार्थ सम्बन्ध की जिज्ञासा का नाम ही दर्शन एकांगी है।

कहीं-कहीं सूत्रों में ऐसे संकेत मिल जाते हैं। जिनसे ऐसा लगता है कि दर्शनों में परस्पर विरोध है। परन्तु थोड़े से विचार से स्पष्ट हो जाता है कि केवल वर्णन-शैली का भेद है। वस्तुतः वह दोनों एक ही मंतव्य को दो भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णन करते हैं। यहाँ हम केवल एक उदाहरण देते हैं—

सांख्य कहता है 'न षड् पदार्थ वादिनो वयम्।' अर्थात् हम छः पदार्थों का वाद नहीं मानते। इससे लोग समझते हैं कि कपिल और कणाद के सिद्धांत एक नहीं। परन्तु उपर्युक्त सूत्र से सांख्यकार का केवल इतना तात्पर्य है कि हमने जो जगत् की व्याख्या की है वह छः पदार्थों के आधार पर नहीं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि छः पदार्थ मानना अयथार्थ है। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई पुलिस का अधिकारी कहे कि हम तो भाई, इस मनुष्य के अपराध से सम्बन्ध रखते हैं, इसका स्वास्थ्य कैसा है ? यह जानना तो डॉक्टर का काम है। इससे पुलिस विभाग और चिकित्सा-विभाग का विरोध सिद्ध

नहीं होता।

स्वामी दयानन्द अपने युग के सबसे बड़े सुधारक हैं। यदि दर्शनकार एक हो जाएँ तो सर्व साधारण का पारस्परिक विरोध और द्वेष दूर हो सकता है, विरोधियों को समझा कर मित्र बना देना सबसे बड़ा सुधार है। □

18. सामाजिक सुधार

स्वामी दयानन्द एक सुधारक थे। महाभारत के पश्चात् भारतीय तथा विदेशीय समाजों में बहुत-सी बुराइयाँ आती गईं। और उनके सुधार के लिए लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयास किया।

महाभारत से पहले जो समाज का संगठन था उसका नाम था वर्ण-व्यवस्था। इस शब्द के अर्थों पर विचार कीजिए। 'वर्ण' का अर्थ है 'वरण' अर्थात् चुनना या निर्वाचन करना। व्यवस्था (वि + अव + स्था) का अर्थ है संनियमन या संगठन अर्थात् ऐसे नियम बनाना कि ठीक प्रकार से चल सके। निर्वाचन (चुनना) चुनने वाले की स्वतन्त्र इच्छा को प्रकट करता है। जिस क्रिया में किसी बाह्य बन्धन का प्रसंग न हो। संनियमन संगठन उस स्वातन्त्र्य को सीमित करता है। उसमें बाहरी दबाव का सर्वथा अभाव नहीं है।

कहा जाता है कि मनुष्य एक सामाजिक जन्तु (Social Animal) है। अर्थात् इसकी उन्नति समाज द्वारा ही हो सकती है। यह कभी अकेला रहना नहीं चाहता, न अकेले रहने में उसका हित है। अकेलापन इसकी प्रकृति के प्रतिकूल है और इसकी आवश्यकता के भी। यदि विस्तृत दृष्टि से देखा जाए तो संसार की सब वस्तुयें सामाजिक हैं। पशु सामाजिक हैं, वृक्ष सामाजिक है, यहाँ तक कि पर्वत और नदियाँ भी सामाजिक हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति और पालन के लिए दूसरी वस्तुओं की आवश्यकता होती है। परन्तु मानव समाज के निर्माण

में मनुष्य का अपना बहुत बड़ा हाथ है, यदि मनुष्य भूल करता है तो उसके समाज का संगठन अस्त-व्यस्त हो जाता है।

हर मनुष्य की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इन भिन्न-प्रवृत्तियों के मनुष्यों का इस प्रकार आचरण करना कि एक-दूसरे की आवश्यकतओं की भी पूर्ति करें और एक-दूसरे की उन्नति में सहयोग दें 'वर्ण-व्यवस्था' कहलाती है।

वर्ण को वैदिक ऋषियों ने चार भागों में विभक्त किया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह विभाजन न केवल मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित था, अपितु उसकी वैयक्तिक विशेषतओं पर आधारित था।

समाज को विद्या चाहिए, वीरता चाहिए, कला-कौशल चाहिए और सेवा चाहिए। यह सब उद्देश्य एक मनुष्य अथवा हर कोई मनुष्य पूरा नहीं कर सकता। इसकी प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। मनुष्य उसी काम को सुन्दरता से कर सकता है जो उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल हो। इसलिए हर मनुष्य को स्वतन्त्रता दी गई कि ऊपर लिखे चार हितों में से अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल किसी एक को चुन ले। वह इस बात के लिए बाधित है कि वह अपने लिए निर्वाचन करे। लेकिन क्या निर्वाचन करे इसमें उसको स्वतन्त्रता है। वह यह नहीं कह सकता कि मैं निर्वाचन करूँगा ही नहीं। अपने सिर क्यों बला लूँ। स्वतन्त्र क्यों न रहूँ। ऐसा करना समाज के लिए बाधक और घातक होगा। इसलिए उसे अपने लिए कोई एक काम तो चुनना ही होगा। चुनने में वह अपनी इच्छा का प्रयाग करता है। परन्तु चुनने के पश्चात् उसे उसका पालन आवश्यक हो जाएगा। पालन न कर सकने पर दण्ड दिया जाएगा। यह है 'वर्ण-व्यवस्था'। विस्तृत वर्णन की

आवश्यकता नहीं।

महाभारत में वर्ण-व्यवस्था कुछ धुँधली पड़ गई थी। द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, गुरु थे, परन्तु वह थे राजा के नौकर। गुरु थे इसलिए उनकी पदवी थी 'आचार्य' की परन्तु नाम के लिये। वह राजा की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते थे। उन्होंने 'एकलव्य' को पढ़ाने से इसलिए इनकार कर दिया था कि वह शूद्र का लड़का था। और शूद्र के लड़के को राजघराने के राजकुमारों के साथ पढ़ने का अधिकार नहीं था। और जब 'एकलव्य' ने किसी प्रकार शस्त्र-विद्या सीख ली तो गुरु द्रोणाचार्य ने उसे छल द्वारा अयोग्य बना दिया, कि कहीं ऐसा न हो कि शूद्र अर्जुन या दुर्योधन से अधिक वीर बन जाए। यह वर्ण-व्यवस्था की अवहेलना थी और इसका परिणाम बुरा होना ही था। इसी प्रकार समाज में अन्य बहुत-सी त्रुटियाँ आ गई थीं और अन्त में यहाँ तक नौबत पहुँची कि वैयक्तिक अधिकारों का प्रश्न कुल-गत अधिकारों का प्रश्न बन गया। वर्ण के स्थान पर जातियाँ (बिरादरियाँ) हो गईं। वर्ण की कसौटी थी ज्ञान और आचरण। जाति की कसौटी हुई 'जन्म'। एक मनुष्य ब्राह्मण है क्योंकि वह ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है। दूसरा कुम्हार है क्योंकि कुम्हार के घर में उत्पन्न हुआ है। कुम्हार के लड़के को अपने कुल का व्यवसाय करना ही चाहिए, चाहे उन्हें वह व्यवसाय पसन्द हो या न हो। उसको योग्यता हो या न हो।

इसका परिणाम बुरा हुआ। जातियाँ रहीं। उनके नाम रहे परन्तु उनके गुण नष्ट हो गए। जातियाँ भी सैकड़ों हो गईं। उनमें रोटी-बेटी का सम्बन्ध न रहा। और विषमता बढ़ गई।

महात्मा बुद्ध ने समाज-सुधार करना चाहा। उन्होंने एक उपाय

समझा अर्थात् भेद-भाव को दूर कर दो। 'सब एक हैं और एक से हैं।' यह निर्वाचन नहीं था अपितु निर्वाचन का अभाव था। इसका काम था सोशल तोड़-फोड़। इसका नाम सुधार (रिफार्म) नहीं था। उन्होंने 'तोड़ा' परन्तु 'बनाया' नहीं। बौद्ध देशों में कोई जात-पाँत का भेद नहीं है। यह एक अच्छी बात है परन्तु यह सुधार निषेधात्मक है रचनात्मक नहीं।

भारतवर्ष में महात्मा बुद्ध के पश्चात् श्री शंकराचार्य जी, श्री रामानुजाचार्य जी आदि सुधारक हुए। उन्होंने समाज-सुधार को छुआ तक नहीं। जात-पाँत का भेद-भाव बढ़ गया। घटा नहीं। कुछ सन्त हुए जिन्होंने इस भेदभाव को हटा दिया।

जात-पाँत पूछे नहिं कोई
हरि को भजे सो हरि को होई।

परन्तु यह बात साधुओं तक सीमित रही। गृहस्थ लोग जात-पाँत को वैसा ही मानते रहे। बौद्धकाल में भी हम भारतवर्ष में यह भेद-भाव देखते हैं। बौद्ध भिक्षु या साधु इस भेद-भाव को मानते न थे। परन्तु साधारण दुनियादार आदमियों में यह भेद-भाव बराबर बना रहा और कड़ाई के साथ बना रहा। केवल साधुओं के सुधार से तो सुधार हो ही नही सकता था। शादी, विवाह, व्यवसाय आदि तो गृहस्थियों का काम था। इसलिए सामाजिक बुराइयों का शिकार भी गृहस्थी ही हुए।

स्वामी दयानन्द से पूर्व दूसरे देशों के लोगों ने भी सुधार करना चाहा था। वहाँ एक और प्रश्न उठ खड़ा हुआ। वह प्रश्न यह था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज के साथ सीधा सम्बन्ध रखता है। वह अपने समाज का एक अंग है। या समाज और व्यक्ति के मध्य

में कोई ऐसी चीज भी है जिसे 'कुटुम्ब' या 'कुल' कहते हैं। अफलातून (प्लेटो) का कथन था 'विद्वानों' (दर्शन-शास्त्र से अभिज्ञ) के लिए 'विवाह' या 'कुल' की कोई आवश्यकता नहीं, उच्चवर्ग का सीधा सम्बन्ध समाज से होना चाहिए, इसलिए अफलातून का परामर्श था कि यदि समाज को उच्च योग्यता के लोगों की आवश्यकता है तो विवाह की प्रथा दूर कर देनी चाहिए। कोई योग्य पुरुष योग्य स्त्री से सन्तानोत्पत्ति कर सकता है। वह सन्तान अपने माता-पिता की न होकर समाज की सन्तान होगी। समाज या राज्य सरकार सन्तान के पालन-पोषण का प्रबन्ध करेगी। आगे कई शताब्दियों के पश्चात् कम्युनिस्ट नेताओं की भी कुछ ऐसी ही धारणा थी। इस सिद्धांत पर परीक्षण तो बहुत किए गए परन्तु सफल नहीं हुए।

स्वामी दयानन्द के सुधार का प्रकार सर्वथा भिन्न था। वह तोड़ना तो चाहते थे परन्तु बनाने के उद्देश्य से। उन्होंने परिश्रम किया कि भारत के ब्राह्मणों पर यह सिद्ध कर दें कि वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म नहीं अपितु गुण-कर्म-स्वभाव है। जहाँ इन तीनों का समन्वय होगा, वहाँ व्यक्तिगत उन्नति होगी और समाज की उन्नति होगी।

स्वामी दयानन्द वर्ण-व्यवस्था को तोड़ना नहीं अपितु सुदृढ़ करना चाहते हैं, जिससे वह विशेषताएँ जिन पर वर्ण-व्यवस्था का आश्रय है स्वयं ही विकसित हो जाएँ।

इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता तो यह है कि हर बालक की शिक्षा अनिवार्य हो। किसी बालक को शिक्षा से इसलिए वंचित न रखा जाए कि उसके माँ-बाप नीच समझे जाते हैं।

आर्यसमाज के आधीन गुरुकुल खुले उनमें प्रवेश पत्रों में जात-बिरादरी का 'खाना' निकाल दिया गया। विद्यार्थी अपने पिता

का नाम लिखता है 'जात' नहीं लिखता।

काशी के ब्राह्मणों में यह प्रथा थी कि जब तक कुल की वंशावली से परिचय न हो पढ़ाते न थे। बिचारा कबीर इतना ज्ञानवान और शुद्ध होते हुए भी शिक्षा से वंचित रहा।

शनैः-शनैः स्वामी दयानन्द ने जो सुधार आरम्भ किया वह आज के भारतवर्ष में सर्वप्रिय हो रहा है। महात्मा गाँधी ने तो दिल्ली की भंगी बस्ती में अपना घर बनाकर छूतछात को सर्वथा दूर कर दिया। भारत के शासन-विधान में अस्पृश्यता एक अपराध है, सब व्यवसाय सब लोगों के लिए खुले हुए हैं। विवाह भी जात-पाँत को तोड़कर होने लगे हैं और यह प्रथा बढ़ती जा रही है। आर्यसमाज के संविधान में जन्म या कुल का कोई भेद-भाव नहीं है। यदि कुछ पुराने संस्कार बने हुए हैं तो वह भी धीरे-धीरे दूर होते जा रहे हैं। स्वामी दयानन्द ने बीज-वपन किया, उनके भक्तों ने क्षेत्र बनाया और सिंचाई की। और आज–

'लहराती है खेती दयानन्द की।'

❖

ओ३म्

भारतीय पतन और उत्थान की कहानी